स्वामी विवेकानन्द
हिन्दू धर्म

१६.११.९४

हिन्दू धर्म

स्वामी विवेकानन्द

(बारहवाँ संस्करण)

श्री. डॉ. नोबीन बॅनर्जी
केंद्रीय नाभिकीय प्रयोगशाला (भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर) के अध्यापकों, विद्यार्थियों एवम् कर्मचारियों द्वारा सस्नेह भेंट।

रामकृष्ण मठ
नागपुर

प्रकाशक :

स्वामी व्योमरूपानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ
धन्तोली, नागपुर ४४० ०१२

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प-संख्या १७

[प.९२ : प्र ५०]

मूल्य : रु. १०.००

मुद्रक : गीतांजली प्रेस प्रा. लि., कुंदनलाल चांडक इंडस्ट्रियल इस्टेट,
घाट रोड, नागपूर-४०० ०१८.

वक्तव्य

'हिन्दू धर्म' का द्वादश संस्करण पाठकों के सम्मुख रखते हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी विवेकानन्द द्वारा भारत तथा विदेश में हिन्दू धर्म पर दिये गये भाषणों का संकलन है। उन्होंने अपने इन भाषणों में हिन्दू धर्म के भिन्न-भिन्न अंगों पर प्रकाश डाला है तथा उनका सूक्ष्म रूप से विश्लेषण किया है, जिससे इस महान् प्राचीन धर्म की पूर्ण जानकारी हमें प्राप्त हो जाती है। जो हिन्दू धर्म के प्रेमी हैं तथा जो इस धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों को जानने के इच्छुक हैं, उन्हें इस पुस्तक से बहुत ही लाभ होगा।

यह अनुवाद स्व. पं. द्वारकानाथजी तिवारी, बी. ए., एलएल. बी., ने किया है।

हमें विश्वास है कि स्वामीजी के इन स्फूर्तिदायक भाषणों से हिन्दी जनता का विशेष हित होगा।

नागपुर,
१३. ११. १९९३

—प्रकाशक

अनुक्रमणिका
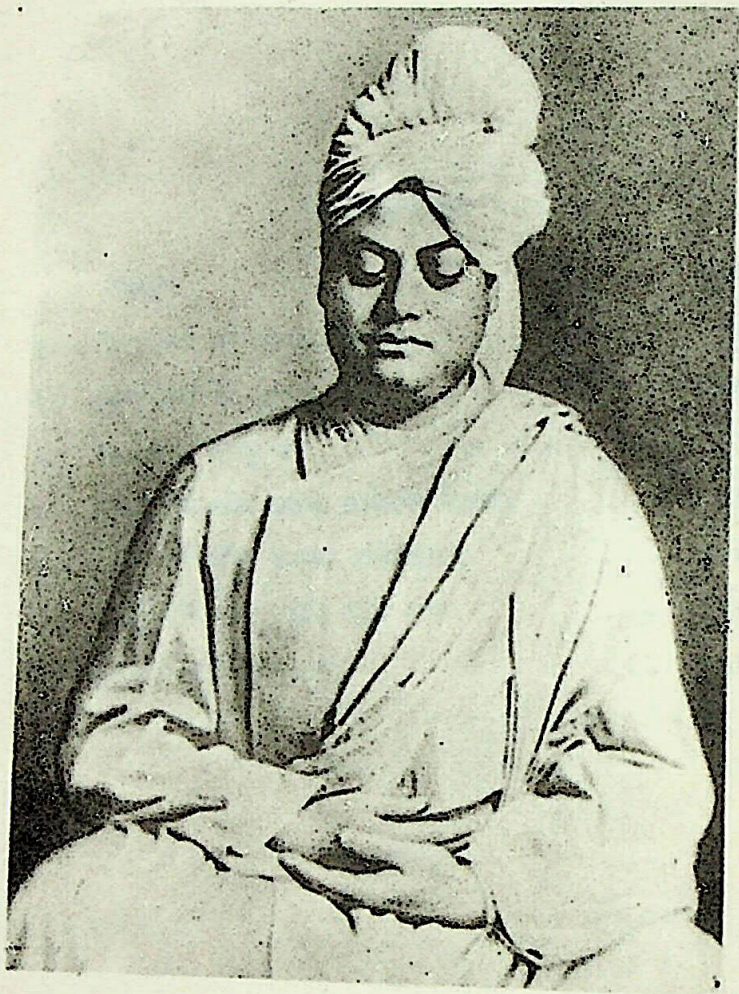
हिन्दू धर्म

हिन्दू धर्म की सार्वभौमिकता

ऐतिहासिक युग के पूर्व के केवल तीन ही धर्म आज संसार में विद्यमान हैं—हिन्दू धर्म, पारसी धर्म और यहूदी धर्म। ये तीन धर्म अनेकानेक प्रचण्ड आघातों के पश्चात् भी लुप्त न होकर आज भी जीवित हैं—यह उनकी आन्तरिक शक्ति का प्रमाण है। पर जहाँ हम यह देखते हैं कि यहूदी धर्म ईसाई धर्म को नहीं पचा सका, वरन् अपनी सर्वविजयी सन्तान—ईसाई धर्म—द्वारा अपने जन्मस्थान से निर्वासित कर दिया गया, और यह कि केवल मुट्ठी-भर पारसी ही अपने महान् धर्म की गाथा गाने के लिए अब अवशेष हैं—वहाँ भारत में एक के बाद एक अनेकों धर्म-पन्थों का उद्भव हुआ और वे पन्थ वेदप्रणीत धर्म को जड़ से हिलाते-से प्रतीत हुए; पर भयंकर भूकम्प के समय समुद्री किनारे की जलतरंगों के समान यह धर्म कुछ समय के लिए इसीलिए पीछे हट गया कि वह तत्पश्चात् हजार गुना अधिक बलशाली होकर सम्मुखस्थ सब को डुबानेवाली बाढ़ के रूप में लौट आये; और जब यह सारा कोलाहल शान्त हो गया, तब सारे धर्म-सम्प्रदाय अपनी जन्मदात्री मूल हिन्दू धर्म की विराट् काया द्वारा आत्मसात् कर लिये गये, पचा लिये गये।

आधुनिक विज्ञान के नवीनतम आविष्कार जिसकी केवल प्रतिध्वनि मात्र हैं, ऐसे वेदान्त के अत्युच्च आध्यात्मिक भाव से लेकर सामान्य मूर्तिपूजा एवं तदानुषंगिक अनेक पौराणिक दन्त-

कथाओं, और इतना ही नहीं बल्कि बौद्धों के अज्ञेयवाद तथा जैनों के निरीश्वरवाद—इनमें से प्रत्येक के लिए हिन्दू धर्म में स्थान है।

तब, प्रश्न यह उठता है कि वह कौनसा एक साधारण बिंदु है, जहाँ पर इतनी विभिन्न दिशाओं में जानेवाली त्रिज्यारेखाएँ केन्द्रस्थ होती हैं? वह कौनसा एक सामान्य आधार है, जिस पर इतने परस्पर-विरोधी भासनेवाले ये सब भाव आश्रित हैं? इसी प्रश्न का उत्तर देने का अब मैं प्रयत्न करूँगा।

हिन्दू जाति ने अपना धर्म अपौरुषेय वेदों से प्राप्त किया है। उनकी धारणा है कि वेद अनादि और अनन्त हैं। श्रोताओं को, सम्भव है, यह हास्यास्पद मालूम हो और वे सोचें कि कोई पुस्तक अनादि और अनन्त कैसे हो सकती है। परन्तु वेद का अर्थ है भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक तत्त्वों का संचित कोष। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त मनुष्यों के पता लगने के पूर्व से ही अपना काम करता चला आया था और आज यदि मनुष्य-जाति उसे भूल भी जाय तो भी वह नियम अपना काम करता ही रहेगा, ठीक वही बात आध्यात्मिक जगत् को चलानेवाले नियमों के सम्बन्ध में भी है। एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ और प्रत्येक आत्मा का परमपिता परमात्मा के साथ जो नैतिक तथा दिव्य आध्यात्मिक सम्बन्ध हैं, वे हमारे पता लगाने के पूर्व भी थे, और हम यदि उन्हें भूल भी जायँ तो भी बने रहेंगे।

इन नियमों या सत्यों का आविष्कार करनेवाले 'ऋषि' कहलाते हैं और हम उनको पूर्णत्व को पहुँची हुई विभूति जानकर सम्मान देते हैं। श्रोताओं को यह बतलाते हुए मुझे हर्ष होता है

कि इन अतिशय उन्नत ऋषियों में कुछ स्त्रियाँ भी थीं।

यहाँ पर कोई यह तर्क कर सकता है कि ये आध्यात्मिक नियम, नियम के रूप में अनन्त भले ही हों, पर इनका आदि तो अवश्य ही होना चाहिए। वेद हमें यह सिखाते हैं कि सृष्टि का (अतएव सृष्टि के इन नियमों का भी) न आदि है, न अन्त। विज्ञान ने हमें सिद्ध कर दिखाया है कि समग्र विश्व की सारी शक्ति-समष्टि का परिमाण सदा एकसा रहता है। तो फिर, यदि ऐसा कोई समय था जब कि किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं था, उस समय यह सम्पूर्ण व्यक्त शक्ति कहाँ थी? कोई कोई कहते हैं कि ईश्वर में ही वह सब अक्रिय रूप से निहित थी। तब तो ईश्वर कभी निष्क्रिय और कभी सक्रिय है; इससे तो वह विकारशील हो जायगा। प्रत्येक विकारशील पदार्थ मिश्रित होता है और हरएक मिश्रित पदार्थ में वह परिवर्तन अवश्यम्भावी है, जिसे हम विनाश कहते हैं। इस तरह तो ईश्वर की मृत्यु हो जायगी, जो कि सर्वथा असम्भव एवं हास्यास्पद कल्पना है। अतः ऐसा समय कभी नहीं था, जब यह सृष्टि नहीं थी। अतएव यह सृष्टि अनादि है।

मैं एक उपमा दूँ—स्रष्टा और सृष्टि मानो दो रेखाएँ हैं जिनका न आदि है न अन्त, और जो समानान्तर हैं। ईश्वर नित्य-क्रियाशील महा-शक्तिस्वरूप है, सर्व-विधाता है, जिसकी प्रेरणा से प्रलय-पयोधि में से नित्यशः एक के बाद एक ब्रह्माण्ड का सृजन होता है, उनका कुछ काल तक पालन होता है और तत्पश्चात् वे पुनः विनष्ट कर दिये जाते हैं। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अर्थात् इस सूर्य और इस चन्द्रमा को विधाता ने पूर्व कल्पों के सूर्य और चन्द्रमा के समान निर्मित किया है—

इस वाक्य का नित्य पाठ प्रत्येक हिन्दू बालक प्रतिदिन अपने गुरु के साथ किया करता है। और यह सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान के साथ मेल खाता है।

यहाँ पर मैं खड़ा हूँ। अपनी आँखें बन्द करके यदि मैं अपने अस्तित्व को समझने का प्रयत्न करूँ कि मैं क्या हूँ—'मैं', 'मैं', 'मैं', तो मुझमें किस भाव का उदय होता है? यह कि मैं शरीर हूँ। तो क्या मैं भौतिक पदार्थों के समूह के सिवाय और कुछ नहीं हूँ? वेदों की घोषणा है—नहीं, मैं शरीर में रहनेवाली आत्मा हूँ। शरीर मर जायगा, पर मैं नहीं मरूँगा। मैं इस शरीर में विद्यमान हूँ और जब इस शरीर का पतन होगा, तब भी मैं विद्यमान रहूँगा ही। इस शरीर-ग्रहण के पूर्व भी मैं विद्यमान था। आत्मा किसी पदार्थ से सृष्ट नहीं हुई है, क्योंकि सृष्टि का अर्थ है भिन्न-भिन्न द्रव्यों का संयोग, और इस संयोग का अर्थ होता है भविष्य में अवश्यम्भावी वियोग। अतएव यदि आत्मा का सृजन हुआ, तो उसकी मृत्यु भी होनी चाहिए। इससे सिद्ध हो गया कि आत्मा का सृजन नहीं हुआ था, वह कोई सृष्ट पदार्थ नहीं है। पुनश्च, कुछ लोग जन्म से ही सुखी होते हैं, पूर्ण स्वास्थ्य का आनन्द भोगते हैं, उन्हें सुन्दर शरीर, उत्साहपूर्ण मन और सभी आवश्यक सामग्रियाँ प्राप्त रहती हैं। दूसरे कुछ लोग जन्म से ही दुःखी होते हैं, किसी के हाथ या पाँव नहीं होते, तो कोई मूर्ख होते हैं, और येन-केन-प्रकारेण अपने दुःखमय जीवन के दिन काटते हैं। ऐसा क्यों? यदि ये सभी एक ही न्यायी और दयालु ईश्वर ने उत्पन्न किये हों, तो फिर उसने एक को सुखी और दूसरे को दुःखी क्यों बनाया? भगवान् ऐसा पक्षपाती क्यों है? फिर ऐसा मानने से भी बात नहीं सुधर सकती कि जो इस वर्तमान

जीवन में दुःखी हैं, वे भावी जीवन में पूर्ण सुखी रहेंगे। न्यायी और दयालु भगवान् के राज्य में मनुष्य इस जीवन में भी दुःखी क्यों रहे ? दूसरी बात यह है कि सृष्टि-उत्पादक ईश्वर को मान्यता देनेवाला यह सिद्धान्त सृष्टि में इस वैषम्य के लिए कोई कारण बताने का प्रयत्न तक नहीं करता, वल्कि वह तो केवल एक सर्व-शक्तिमान् स्वेच्छाचारी पुरुष का निष्ठुर व्यवहार ही प्रकट करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि यह कल्पना युक्ति-विरुद्ध है। अतएव यह स्वीकार करना ही होगा कि इस जन्म के पूर्व ऐसे कारण होने ही चाहिए जिनके फलस्वरूप मनुष्य इस जन्म में सुखी या दुःखी हुआ करता है। और ये कारण हैं उसके ही पूर्वानुष्ठित कर्म। अच्छा, मनुष्य के शरीर और मन की गठन उसके पिता-पितामह आदि के शरीरमन के अनुरूप होती है ऐसा आनुवंशिकता का सिद्धान्त क्या उपर्युक्त समस्या का समुचित उत्तर न होगा ? यह स्पष्ट है कि जीवनस्रोत जड़ और चैतन्य इन दो धाराओं में प्रवाहित हो रहा है। यदि जड़ और जड़ के विकार ही आत्मा, मन, बुद्धि आदि हम जो कुछ हैं उन सब के उपयुक्त कारण सिद्ध हो सकते, तो फिर और स्वतन्त्र आत्मा के अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता ही न रह जाती। पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि चैतन्य का विकास जड़ से हुआ। अतएव यह स्वीकार कर लेने पर कि एक जड़-पदार्थ से सब कुछ सृष्ट हुआ है, यह भी स्वीकार करना निःसंशय युक्ति-युक्त होगा कि एक मूल चैतन्य से ही समस्त सृष्टिकार्य का निर्वाह हो रहा है। और यह केवल युक्तियुक्त ही नहीं वरन् वांछनीय भी है। पर यहाँ उसकी आलोचना करने की कोई आवश्यकता नहीं।

अवश्य, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कुछ शारीरिक प्रवृत्तियाँ माता-पिता से प्राप्त होती हैं, पर इसका सम्बन्ध केवल शारीरिक गठन से है जिसके द्वारा जीवात्मा की कोई विशेष प्रवृत्ति प्रकट हुआ करती है। उसकी इस प्रवृत्ति-विशेष का कारण उसी के पूर्वकृत कर्म हुआ करते हैं। एक विशेष प्रवृत्तिवाला जीवात्मा 'योग्यं योग्येन युज्यते' इस नियमानुसार उसी शरीर में जन्म ग्रहण करता है जो उस प्रवृत्ति के प्रकट करने के लिए सब से उपयुक्त आधार हो। यह पूर्णतया विज्ञान-संगत है, क्योंकि विज्ञान कहता है कि प्रवृत्ति या स्वभाव अभ्यास से बनता है और अभ्यास बारम्बार अनुष्ठान का फल है। इस प्रकार एक नवजात बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का कारण बताने के लिए पुनः पुनः अनुष्ठित पूर्व कर्मों को मानना आवश्यक हो जाता है। और चूंकि वर्तमान जीवन में इस स्वभाव की प्राप्ति नहीं की गयी, इसलिए वह पूर्व जीवन से ही उसे प्राप्त हुआ है।

इस पर एक शंका की जा सकती है। अच्छा, ये सभी बातें तो मान ली गयीं, पर यह कैसी बात है कि मेरे पूर्व जन्म की कोई बात मुझे स्मरण नहीं है? इसका समाधान सरल है। मैं अभी अँगरेजी बोल रहा हूँ। वह मेरी मातृभाषा नहीं है। सच पूछो तो इस समय मेरी मातृभाषा का कोई भी शब्द मेरे चित्त में उपस्थित नहीं है, पर उन शब्दों को सामने लाने का थोड़ा प्रयत्न करते ही वे मेरे मन में उमड़ आते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि मानस-समुद्र की सतह पर जो कुछ रहता है, वही हमें बोधगम्य हुआ करता है। और भीतर, उसकी गहराई में हमारी समस्त अनुभवराशि निहित रहती है; केवल प्रयत्न तथा उद्यम-पूर्वक मन्थन करने की आवश्यकता है। वे सारे अनुभव ऊपर

सतह पर उठ आयेंगे और पूर्व जन्मों की स्मृति जाग उठेगी।

पूर्वजन्म के सम्बन्ध में यही साक्षात् प्रमाण है। परीक्षा द्वारा ही किसी मतवाद की सच्चाई पूर्णतः प्रमाणित होती है। ऋषिगण समस्त संसार को ललकार कर कह रहे हैं कि हमने उस रहस्य का पता लगा लिया है जिससे स्मृति-सागर की गम्भीरतम गहराई तक का मन्थन किया जा सकता है—उसका प्रयोग करो और तुम अपने पूर्वजन्मों की सम्पूर्ण स्मृति प्राप्त कर लोगे।

अतएव देखा गया कि हिन्दू का यह विश्वास है कि वह आत्मा है। "इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, पानी आर्द्र नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती।" हिन्दुओं की यह धारणा है कि आत्मा एक ऐसा वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं नहीं है, यद्यपि उसका केन्द्र शरीर में अवस्थित है; और मृत्यु का अर्थ केवल इतना ही है कि एक शरीर से दूसरे शरीर में इस केन्द्र का स्थानान्तर हो जाना। यह आत्मा भौतिक नियमों के वशीभूत नहीं है, वह स्वरूपतः नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है। परन्तु किसी अचिन्त्य कारण से वह अपने को जड़ से बँधी हुई पाती है और अपने को जड़ ही समझने लगती है।

अब प्रश्न यह है कि यह विशुद्ध, पूर्ण और विमुक्त आत्मा इस प्रकार जड़ का दासत्व क्यों करती है? स्वयं पूर्ण होते हुए भी इस आत्मा को अपूर्णत्व की यह भ्रमात्मक धारणा कैसे हो सकती है? हमें यह बताया जाता है कि हिन्दू लोग इस प्रश्न से किनारा कस लेते हैं और कह देते हैं कि ऐसा प्रश्न पूछा ही नहीं जा सकता। कुछ पण्डित लोग आत्मा और जीव दोनों के बीच

में कुछ पूर्णप्राय सत्ताओं के अस्तित्व की कल्पना कर लेते हैं और उन्हें अनेकविध बड़ी बड़ी वैज्ञानिक संज्ञाएँ दे देते हैं। परन्तु केवल नाम दे देने से ही मीमांसा नहीं हो जाती। प्रश्न ज्यों का त्यों ही बना रहता है। जो पूर्ण है, उसकी पूर्णता किसी भी तरह या किसी भी अंश में कैसे कम हो सकती है? जो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है, उसके उस 'स्वभाव' का अणुमात्र भी व्यतिक्रम कैसे हो सकता है? पर हिन्दू सत्य का निष्कपट पुजारी है। वह मिथ्या तर्क-युक्ति का सहारा नहीं लेना चाहता। वह सत्यनिष्ठ की तरह इस प्रश्न का सामना करने का साहस रखता है, और इस प्रश्न का उत्तर है, "मैं नहीं जानता। मैं नहीं जानता कि पूर्ण आत्मा अपने को अपूर्ण कैसे समझने लगी, जड़-पदार्थों के संयोग से अपने को जड़-नियमाधीन कैसे मानने लगी।" पर वस्तुस्थिति जो है, वही रहेगी। प्रत्येक व्यक्ति अपने को शरीर मानता है। हिन्दू यह समझने का प्रयत्न नहीं करता कि ऐसा क्यों होता है, मनुष्य अपने को शरीर क्यों समझता है। 'यह ईश्वर की इच्छा है' यह उत्तर इस शंका का कोई समाधान नहीं कर सकता। यह उत्तर तो हिन्दू के 'मैं नहीं जानता' उत्तर से किसी प्रकार अधिक यथार्थ नहीं है।

अतएव हमने देखा कि मनुष्य की आत्मा अनादि और अमर है, पूर्ण और अनन्त है, और मृत्यु का अर्थ है—एक शरीर से दूसरे शरीर में केवल केन्द्र-परिवर्तन। वर्तमान अवस्था हमारे पूर्वानुष्ठित कर्मों द्वारा निश्चित होती है और भविष्य, वर्तमान कर्मों द्वारा। आत्मा जन्म और मृत्यु के चक्र में लगातार घूमती हुई कभी ऊपर उठती है, कभी नीचे जाती है। पर यहाँ एक दूसरा प्रश्न उठता है—क्या मनुष्य उस छोटीसी नौका के समान

है, जो प्रचण्ड तूफान में पड़कर एक क्षण किसी वेगवान तरंग के फेनिल शिखर पर चढ़ जाती है और दूसरे क्षण भयानक गड्ढे में नीचे ढकेल दी जाती है; मनुष्य क्या इस प्रकार अपने अच्छे और बुरे कर्मों के नितान्त परवश हो केवल इधर-उधर भटकता फिरता है; क्या वह कार्य-कारण के सतत-प्रवाही, सर्वंकष, भीषण तथा गर्जनशील प्रवाह में पड़ा हुआ शक्तिहीन, निस्सहाय, नगण्य जीव मात्र है; क्या वह उस कर्मचक्र के नीचे पड़ा हुआ एक क्षुद्र कीटाणु है जो पतिशोक से व्याकुल विधवा के आँसुओं तथा अनाथ बालक की आहों की तनिक भी परवाह न करते हुए अपने मार्ग में आनेवाली सभी वस्तुओं को कुचल डालता है ? इस प्रकार के विचार से अन्तःकरण काँप उठता है, पर प्रकृति का नियम तो यही है। तो फिर क्या कोई आशा ही नहीं है ?—इससे बचने का कोई मार्ग नहीं है ?—यही करुण पुकार निराशा-विह्वल हृदय के अन्तस्तल से ऊपर उठी और उस करुणानिधान विश्वपिता के सिंहासन तक जा पहुँची। वहाँ से आशा तथा सान्त्वना की वाणी निकली और एक वैदिक ऋषि के अन्तःकरण में प्रेरणा-रूप में आविर्भूत हुई। ईश्वरी शक्ति द्वारा अनुप्राणित इस महर्षि ने संसार के सामने खड़े होकर घन-गम्भीर स्वर से इस आनन्द सन्देश की घोषणा की—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।

• • •

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ *

—"हे अमृत के पुत्रगण ! हे दिव्यधामवासी देवगण ! सुनो, मैंने उस अनादि पुरातन पुरुष को पहचान लिया है जो समस्त अज्ञान-अन्धकार और माया के परे है। केवल उस पुरुष को जानकर ही तुम मृत्यु के चक्कर से छूट सकते हो। दूसरा कोई पथ नहीं है।"

"हे अमृत के पुत्रगण !" कैसा मधुर और आशाजनक सम्बोधन है यह ! बन्धुओ ! इसी मधुर नाम से मुझे तुम्हें पुकारने दो। "हे अमृत के अधिकारीगण !" सचमुच, हिन्दू तुम्हें पापी कहना अस्वीकार करता है। तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनन्द के भागीदार हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। तुम इस मर्त्यभूमि पर देवता हो। तुम भला पापी ? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है; वह मानव-स्वभाव पर घोर लांछन है। उठो ! आओ ! ऐ सिंहो ! इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो कि तुम भेड़ हो। तुम तो जरा-मरणरहित, नित्यानन्द आत्मा हो ! तुम जड़ पदार्थ नहीं हो। तुम शरीर नहीं हो। जड़ पदार्थ तो तुम्हारा गुलाम है, तुम उसके गुलाम नहीं।

अतः वेद ऐसी घोषणा नहीं करते कि यह सृष्टि-व्यापार कतिपय भयावह, निर्दय अथवा निर्मम विधानों का प्रवाह है, और न यही कि वह कार्य-कारण का एक अच्छेद्य बन्धन है; वरन् वे यह घोषित करते हैं कि इन सब प्राकृतिक नियमों के मूल में, प्रत्येक अणु-परमाणु में तथा शक्ति के प्रत्येक स्पन्दन में ओतप्रोत वही एक पुराणपुरुष विराजमान है, 'जिसके आदेश से वायु

* श्वेताश्वतर उपनिषद्, २-५, ३-८.

चलती है, अग्नि दहकती है, बादल बरसते हैं और मृत्यु पृथ्वी पर इतस्ततः नाचती है।'†

और उस पुरुष का स्वरूप क्या है? वह सर्वव्यापी, शुद्ध, निराकार, सर्वशक्तिमान् है, सब पर उसकी पूर्ण दया है। "तू हमारा पिता है, तू हमारी माता है, तू हमारा परम प्रेमास्पद सखा है, तू ही सभी शक्तियों का मूल है; हमें शक्ति दे। तू ही इन अखिल भुवनों का भार वहन करनेवाला है; तू मुझे इस जीवन के क्षुद्र भार को वहन करने में सहायता दे।" वैदिक ऋषियों ने यही गाया है। हम उसकी पूजा किस प्रकार करें? प्रेम द्वारा ही उसकी पूजा की जा सकती है। "ऐहिक तथा पारत्रिक समस्त प्रिय वस्तुओं से भी अधिक प्रिय जानकर उस परम प्रेमास्पद की पूजा करनी चाहिए।"

वेद हमें शुद्ध प्रेम के सम्बन्ध में इसी प्रकार की शिक्षा देते हैं। अब यह देखा जाय कि भगवान् श्रीकृष्ण ने, जिन्हें हिन्दू लोग पृथ्वी पर ईश्वर का पूर्णावतार मानते हैं, इस प्रेम के पूर्ण विकास की साधना के सम्बन्ध में हमें क्या उपदेश दिया है।

उन्होंने कहा है कि मनुष्य को इस संसार में पद्मपत्र की तरह रहना चाहिए। पद्मपत्र जैसे पानी में रहकर भी उससे नहीं भीगता, उसी प्रकार मनुष्य को भी संसार में रहना चाहिए— उसका हृदय ईश्वर की ओर लगा रहे और उसके हाथ निर्लिप्त भाव से कर्म करने में लगे रहें।

इहलोक या परलोक में पुरस्कार की प्रत्याशा से ईश्वर से प्रेम

† भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥
—कठोपनिषद्, २।३।३

करना बुरी बात नहीं, पर केवल प्रेम के लिए ही ईश्वर से प्रेम करना सब से अच्छा है, और उसके निकट यही प्रार्थना करना उचित है—

न धनं न जनं न च सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ।। *

—"हे भगवन्, मुझे न तो सम्पत्ति चाहिए, न सन्तति, न विद्या। यदि तेरी इच्छा है, तो सहस्रों वार जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ूँगा; पर हे प्रभो, केवल इतना ही दे कि मैं फल की आशा छोड़कर तेरी भक्ति करूँ, केवल प्रेम के लिए ही तुझ पर मेरा निःस्वार्थ प्रेम हो।" भगवान् श्रीकृष्ण के शिष्य धर्मराज युधिष्ठिर उस समय भारत के सम्राट् थे। उनके शत्रुओं ने उन्हें राजसिंहासन से च्युत कर दिया था और उन्हें अपनी सम्राज्ञी के साथ हिमालय के जंगल में आश्रय लेना पड़ा था। वहाँ एक दिन सम्राज्ञी ने उनसे प्रश्न किया, "नाथ, आप इतने धार्मिक हैं कि लोग आपको धर्मराज कहते हैं। परन्तु ऐसा होते हुए भी आपको इतना दुःख क्यों सहना पड़ता है?" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "महारानी, देखो यह हिमालय कैसा भव्य और सुन्दर है। मैं इस पर प्रेम करता हूँ। यह मुझे कुछ नहीं देता; पर मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि मैं भव्य और सुन्दर वस्तु पर प्रेम करता हूँ और इसी कारण मैं उस पर प्रेम करता हूँ। उसी प्रकार मैं ईश्वर पर प्रेम करता हूँ। वह अखिल सौन्दर्य, समस्त सुषमा का मूल है। वही एक ऐसा पात्र है जिस पर प्रेम करना चाहिए। उस पर प्रेम करना मेरा स्वभाव है और इसीलिए मैं उस पर प्रेम करता हूँ। मैं किसी बात के लिए उससे प्रार्थना नहीं करता, मैं उससे कोई वस्तु नहीं माँगता। उसकी जहाँ इच्छा हो, मुझे

* श्रीचैतन्य महाप्रभु

रखें। मैं तो सब अवस्थाओं में केवल प्रेम के लिए ही उस पर प्रेम करना चाहता हूँ, मैं प्रेम में सौदा नहीं कर सकता।" *

वेद कहते हैं कि आत्मा ब्रह्मस्वरूप है, वह केवल पंचभूतों के बन्धनों में बँध गयी है और उन बन्धनों के टूटने पर वह अपने पूर्व पूर्णत्व को प्राप्त हो जायगी। इस अवस्था का नाम मुक्ति है, जिसका अर्थ है स्वाधीनता—अपूर्णता, जन्म-मृत्यु, आधि-व्याधि से छुटकारा।

आत्मा का यह बन्धन केवल ईश्वर की दया से ही टूट सकता है और उसकी दया शुद्ध, पवित्र स्वभाववाले लोगों को ही प्राप्त होती है। अतएव पवित्रता ही उसके अनुग्रह की प्राप्ति का उपाय है। जब उसकी कृपा होती है, तब शुद्ध और पवित्र हृदय में वह आविर्भूत होता है। विशुद्ध और निर्मल मनुष्य इसी जीवन में ईश्वरदर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है। "तब उसकी समस्त कुटिलता नष्ट हो जाती है, सारे सन्देह दूर हो जाते हैं।"‡ तब वह कार्य-कारण के भयानक नियम के हाथ का खिलौना नहीं रह जाता। यही हिन्दूधर्म का मूलभूत सिद्धान्त है—यही उसका असल भाव है। हिन्दू, शब्दों और सिद्धान्तों के जाल में

---

* नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ॥
धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम्।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ॥

—महाभारत, वनपर्व, ३१।२।५

‡ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

--मुण्डकोपनिषद्, २।२।८

समय बिताना नहीं चाहता। यदि इस साधारण वैषयिक जीवन के परे और भी कोई अवस्था है, कोई अतीन्द्रिय जीवन है, तो वह उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है। यदि उसमें कोई आत्मा है जो जड़-वस्तु नहीं है, यदि कोई दयामय सर्वव्यापी परमात्मा है, तो वह उसका साक्षात्कार कर लेना चाहता है, कारण, ईश्वर के केवल प्रत्यक्ष दर्शन से ही उसकी समस्त शंकाएँ दूर होंगी। अतः हिन्दू ऋषि आत्मा के विषय में, ईश्वर के विषय म यही सर्वोत्तम प्रमाण देता है कि "मैंने आत्मा का दर्शन किया है, मैंने ईश्वर का दर्शन किया है।" और यही पूर्णत्व की एकमात्र शर्त है। भिन्न-भिन्न मत मतान्तरों या सिद्धान्तों पर विश्वास करने के प्रयत्न हिन्दू धर्म में नहीं हैं, वरन् हिन्दू धर्म तो प्रत्यक्ष अनुभूति या साक्षात्कार का धर्म है। केवल विश्वास का नाम हिन्दू धर्म नहीं है। हिन्दू धर्म का मूलमन्त्र है, "मैं आत्मा हूँ यह विश्वास होना और तद्रूप बन जाना।"

अतः हिन्दुओं की सारी साधना-प्रणाली का लक्ष्य है—सतत अध्यवसाय द्वारा पूर्ण बन जाना, देवता बन जाना, ईश्वर के निकट जाकर उसके दर्शन कर लेना। और इस प्रकार ईश्वर-सान्निध्य को प्राप्त होकर उनके दर्शन कर लेना, उन सर्वलोक-पिता ईश्वर के समान पूर्ण हो जाना—यही असल में हिन्दू धर्म है।

और जब मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है, तब उसका क्या होता है? तब तो वह असीम आनन्द का जीवन व्यतीत करता है। वह अन्य समस्त लाभों की अपेक्षा उत्कृष्ट लाभस्वरूप परमानन्दधाम ईश्वर को प्राप्त करके परम आनन्द का अधिकारी हो जाता है।

इस विषय में सभी हिन्दू एकमत हैं। भारत के भिन्न भिन्न

पन्थों का इस विषय में एक ही मत है। परन्तु अब बात यह है कि तुरीय अथवा निर्विकल्प अवस्था का ही नाम पूर्णावस्था है और यह निर्विकल्प अवस्था तो एकमेव, अद्वितीय और गुणातीत है, जिसमें व्यक्तित्व कदापि नहीं रह सकता। अतः जब आत्मा पूर्णत्व को, इस निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त कर लेती है, तब वह ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त हो जाती है तथा द्वैतज्ञान से रहित हो जाने के कारण वह स्वयं ही सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप हो जाती है। हम इस अवस्था के विषय में किसी किसी पाश्चात्य दार्शनिकों के ग्रन्थों में वारम्बार पढ़ा करते हैं कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व को खोकर जड़ता प्राप्त करता हैं या पत्थर के समान बन जाता है। इससे उन पण्डितों की अनभिज्ञता ही दीख पड़ती है, क्योंकि "जिन्हें चोट कभी नहीं लगी है, वे ही चोट के दाग की ओर हँसी की दृष्टि से देखते हैं!"

मैं आपको बताता हूँ कि ऐसी कोई बात नहीं होती। यदि इस एक क्षुद्र शरीर में आत्मबोध होने से इतना आनन्द होता है, तो दो शरीरों में आत्मबोध का आनन्द अधिक उत्कट होना चाहिए और उसी तरह क्रमशः अनेक शरीरों में आत्मबोध के साथ साथ आनन्द की मात्रा भी अधिकाधिक बढ़नी चाहिए, और जब विश्व-आत्मा का शोध हो जायगा तो आनन्द की परम अवस्था प्राप्त हो जायगी।

अतः उस असीम विश्वात्मक व्यक्तित्व की प्राप्ति के लिए इस दुःखमय क्षुद्र व्यक्तित्व के वन्धन का अन्त होना चाहिए। जब मैं प्राणस्वरूप हो जाऊँगा, तभी मृत्यु के हाथ से मेरा छुटकारा हो सकता है। जब मैं आनन्दस्वरूप हो जाऊँगा, तभी दुःख का अन्त हो सकता है। जब मैं ज्ञानस्वरूप हो जाऊँगा,

तभी सब अज्ञान का अन्त हो सकता है। विज्ञान भी अन्त में इसी सिद्धान्त पर आ पहुँचा है। विज्ञानशास्त्र ने यह सिद्ध कर दिया है कि हम जो इस देह को प्रत्यक्ष और सदा एक-सा मानते हैं, वह भ्रम है; हमारा यह भौतिक व्यक्तित्व भ्रम मात्र है। वास्तव में इस निरवच्छिन्न जड़सागर में यह क्षुद्र शरीर तरंगवत् सदा परिवर्तित होता रहता है, प्रतिक्षण नवीन होता रहता है। पर हमारा चैतन्यांश कभी परिवर्तनशील या भ्रमात्मक नहीं है, इसीलिए वह पूर्णतया सत्य है, और इसी कारण केवल यह अद्वैत ज्ञान ही कि 'मैं एकमेव अद्वितीय आत्मा हूँ,' एकमात्र युक्तियुक्त सिद्धान्त है।

विज्ञान एकत्व की खोज के सिवाय और कुछ नहीं है। ज्योंही कोई विज्ञानशास्त्र पूर्ण एकता तक पहुँच जायगा, त्योंही उसका और आगे बढ़ना रुक जायगा; क्योंकि तब तो वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर चुकेगा। उदाहरणार्थ रसायनशास्त्र, यदि एक बार उस एक मूल द्रव्य का पता लगा ले, जिससे और सब द्रव्य बन सकते हैं, तो फिर वह और आगे नहीं बढ़ सकेगा। पदार्थविज्ञान-शास्त्र जब उस एक मूल शक्ति का पता लगा लेगा जिससे अन्य शक्तियाँ बाहर निकली हैं, तब वह पूर्णता पर पहुँच जायगा। वैसे ही, धर्मशास्त्र भी उस समय पूर्णता को प्राप्त हो जायगा, जब वह उस मूल कारण को जान लेगा जो इस मर्त्यलोक में एकमात्र अमृतस्वरूप है, जो इस नित्य परिवर्तनशील जगत् का एकमात्र अचल अटल आधार है, जो एकमात्र परमात्मा है और अन्य सब आत्माएँ जिसके प्रतिबिम्बस्वरूप हैं। इस प्रकार अनेकेश्वरवाद, द्वैतवाद आदि में से होते हुए इस अद्वैतवाद की प्राप्ति होती है। धर्मशास्त्र इससे आगे नहीं जा सकता। यही सारे

विज्ञानों का चरम लक्ष्य है।

सभी शास्त्र अन्त में इसी सिद्धान्त को पहुँचनेवाले हैं। आज विज्ञानशास्त्र इस दृश्यमान् जगत् को 'सृष्टि' नाम देना नहीं चाहता, वह उसे 'विकास' मात्र कहता है। और हिन्दू को बड़ी प्रसन्नता इस बात की है कि जिस सिद्धान्त को वह अपने अन्तःकरण में इतने दिनों से धारण किये हुए था, वही सिद्धान्त आज बड़ी प्रबल भाषा में, विज्ञान के अत्यन्त आधुनिक प्रयोगों द्वारा अधिक स्पष्ट रूप से सिद्ध करके सिखाया जा रहा है।

अब हम वेदान्त-दर्शन के उत्तुंग शिखर से नीचे उतरकर साधारण अशिक्षित लोगों के धर्म की ओर आते हैं। प्रारम्भ में मैं आपको बता देना चाहता हूँ कि भारतवर्ष में अनेकेश्वरवाद नहीं है। प्रत्येक मन्दिर में यदि कोई खड़ा होकर सुने, तो वह यही पायेगा कि भक्तगण सर्वव्यापित्व से लेकर ईश्वर के सभी गुणों का आरोप उन मूर्तियों में करते हैं। यह अनेकेश्वरवाद नहीं है और न इसका नाम 'कोई देवताविशेष का प्राधान्यवाद' ही हो सकता है। गुलाब को चाहे दूसरा कोई भी नाम क्यों न दे दिया जाय, पर वह सुगन्ध तो वैसी ही मधुर देता रहेगा। केवल नाम ही से तो किसी वस्तु का पूरा स्पष्टीकरण नहीं हो सकता।

बचपन की एक बात मुझे यहाँ याद आती है। एक ईसाई पादरी कुछ मनुष्यों की भीड़ जमा करके धर्मोपदेश कर रहा था। अनेक मजेदार बातों के साथ वह पादरी यह भी कह गया कि "अगर मैं तुम्हारी देवमूर्ति को एक डण्डा लगाऊँ, तो वह मेरा क्या कर सकती है?" एक श्रोता ने चट चुभता-सा जवाब दे डाला कि "अगर मैं तुम्हारे ईश्वर को गाली दे दूँ, तो वह मेरा क्या कर सकता है?" पादरी बोला, "मरने के बाद वह तुम्हें सजा

२

देगा।" हिन्दू भी तानकर बोल उठा, "तुम मरोगे, तब ठीक उसी तरह हमारी देवमूर्ति भी तुम्हें योग्य पुरस्कार देगी!" वृक्ष अपने फलों से जाना जाता है। जब मूर्ति-पूजकों में मैं ऐसे मनुष्यों को पाता हूँ जिनके चारित्र्य, आध्यात्मिक भाव और प्रेम अपना सानी नहीं रखते, तब तो मैं रुककर यही सोचता हूँ— "क्या पाप से भी पवित्रता की उत्पत्ति हो सकती है?"

अन्धविश्वास मनुष्य का महान् शत्रु है, पर हठधर्मी तो उससे भी बढ़कर है। अच्छा, ईश्वर यदि सर्वव्यापी है, तो फिर ईसाई गिरजाघर नामक एक स्वतन्त्र स्थान में उसकी आराधना के लिए क्यों जाते हैं? क्यों वे 'क्रास' को इतना पवित्र मानते हैं? कैथोलिक ईसाइयों के गिरजाघरों में इतनी मूर्तियाँ क्यों रहा करती हैं? और प्रोटेस्टेंट ईसाइयों के हृदय में प्रार्थना के समय इतनी भावमयी मूर्तियाँ क्यों रहा करती हैं? मेरे भाइयो! मन में किसी मूर्ति के आये विना कुछ सोच सकना उतना ही असम्भव है जितना कि श्वास लिये विना जीवित रहना। स्मृति की उद्दीपक भाव-परम्परा के अनुसार जड़मूर्ति के दर्शन से मानसिक भावविशेष का उद्दीपन हो जाता है, अथवा मन में भावविशेष का उद्दीपन होने से तदनुरूप मूर्तिविशेष का भी आविर्भाव होता है। इसीलिए तो हिन्दू आराधना के समय वाह्य प्रतीक का उपयोग करता है। वह आपको बतलायेगा कि यह वाह्य प्रतीक उसके मन को अपने ध्यान के विषय परमेश्वर में एकाग्रता से स्थिर रहने में सहायता देता है। वह भी यह वात उतनी ही अच्छी तरह से जानता है, जितना कि आप जानते हैं कि वह मूर्ति न तो ईश्वर ही है और न सर्वव्यापी ही। और सच पूछिये तो दुनिया के लोग 'सर्वव्यापित्व' का क्या अर्थ समझते हैं? वह तो केवल एक

शब्द या प्रतीक मात्र है। क्या परमेश्वर का भी कोई क्षेत्रफल है? नहीं है न? तो भी जिस समय हम सर्वव्यापी शब्द का उच्चारण करते हैं, उस समय विस्तृत आकाश या विशाल भूमिखण्ड की ही कल्पना अपने मन में लाने के सिवाय हम और क्या करते हैं?

तात्पर्य यह कि अपनी मानसिक प्रकृति के नियमानुसार हमें अपनी अनन्तत्व की भावना को नील आकाश या अपार समुद्र की कल्पना से सम्बद्ध करना पड़ता है; उसी तरह हम पवित्रता के भाव को अपने स्वभावानुसार गिरजाघर, मसजिद या क्रास से जोड़ लेते हैं। हिन्दू लोग पवित्रता, नित्यत्व, सर्वव्यापित्व आदि आदि भावों का सम्बन्ध विभिन्न देवमूर्तियों से जोड़ते अवश्य हैं; पर अन्तर यह है कि जहाँ अन्य लोग अपना सारा जीवन किसी गिरजाघर की मूर्ति की भक्ति में ही बिता देते हैं और उससे आगे नहीं बढ़ते, क्योंकि उनके लिए तो धर्म का अर्थ यही है कि कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों को वे अपनी बुद्धि द्वारा स्वीकृत कर लें और अपने मानव-भाइयों की भलाई करते रहें—वहाँ एक हिन्दू की सारी धर्मभावना प्रत्यक्ष अनुभूति या साक्षात्कार में केन्द्रीभूत हुआ करती है। मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करके स्वयं ईश्वर बनना है। मूर्तियाँ, मन्दिर, गिरजाघर या शास्त्र-ग्रन्थ तो धर्म-जीवन की बाल्यावस्था में केवल आधार या सहायक मात्र हैं; पर उसे तो उत्तरोत्तर उन्नति ही करनी चाहिए।

साधक को कहीं पर रुकना नहीं चाहिए। वेदों का वाक्य है कि "बाह्यपूजा या मूर्ति-पूजा सब से नीचे की अवस्था है; आगे बढ़ने का प्रयास करते समय मानसिक प्रार्थना साधना की दूसरी अवस्था है, और सब से उच्च अवस्था तो वह है जब परमेश्वर

का साक्षात्कार हो जाय।"* देखो, वही अनुरागी साधक जो पहले मूर्ति के सामने झुककर पूजा-प्रणामादि में मग्न रहता था, अब ज्ञान-लाभ के बाद क्या कह रहा है—"सूर्य उस परमात्मा को प्रकाशित नहीं कर सकता, न चन्द्रमा या तारागण ही; वह विद्युत्प्रभा भी परमेश्वर को उद्भासित नहीं कर सकती, तब इस सामान्य अग्नि की बात ही क्या! ये सभी उसी परमेश्वर के कारण प्रकाशित होते हैं।"‡ वह साधक बाह्य मूर्ति-पूजा से अतीत हो चुका है, पर अन्य धर्मावलम्बियों की तरह वह मूर्ति-पूजा को गाली नहीं देता और न उसे पाप का मूल ही बताता है। वह तो उसे जीवन की एक आवश्यक अवस्था जानकर उसको स्वीकार करता है। "बाल्य ही यौवनादि का जन्मदाता है।" तो क्या किसी वृद्ध पुरुष का अपने बचपन या युवावस्था को पाप या बुरा कहना उचित होगा?

यदि कोई मनुष्य अपने ब्रह्मभाव को मूर्ति के सहारे अधिक सरलता से अनुभव कर सकता है, तो क्या उसे पाप कहना ठीक होगा? और जब वह उस अवस्था के परे पहुँच गया है, तब भी उसके लिए मूर्ति-पूजा को भ्रमात्मक कहना उचित नहीं है। हिन्दू की दृष्टि में मनुष्य असत्य से सत्य को नहीं जा रहा है, वह

---

* उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बहिःपूजाऽधमाधमा॥
—महानिर्वाण तन्त्र, चतुर्थ उल्लास, १२

‡ न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
—कठोपनिषद्, २।२।१५

तो सत्य से सत्य की ओर, निम्न श्रेणी के सत्य से उच्च श्रेणी के सत्य की ओर अग्रसर हो रहा है। हिन्दू के मतानुसार क्षुद्र अज्ञानी के धर्म से लेकर वेदान्त के अद्वैतवाद तक जितने धर्म हैं, वे सभी अपने अपने जन्म तथा अवस्था-भेद के अनुसार उस अनन्त ब्रह्म के ज्ञान तथा उपलब्धि के उपाय हैं और ये उपाय उन्नति की सीढ़ियाँ हैं। प्रत्येक जीव उस युवा गरुड़ पक्षी के समान है जो धीरे धीरे ऊँचा उड़ता हुआ तथा अधिकाधिक शक्ति सम्पादन करता हुआ अन्त में उस प्रकाशमय सूर्य तक पहुँच जाता है।

विभिन्नता में एकता, यही तो प्रकृति की रचना है और हिन्दुओं ने इसे भलीभाँति पहचाना है। अन्य धर्मों में कुछ निर्दिष्ट मतवाद विधिवद्ध कर दिये गये हैं और सारे समाज को उन्हें मानना अनिवार्य कर दिया जाता है। वे तो समाज के सामने केवल एक ही नाप की कमीज रख देते हैं, जो राम, श्याम, हरि सब के शरीर में जबरदस्ती ठीक होनी चाहिए। और यदि वह कमीज राम या श्याम के शरीर में ठीक नहीं बैठती तो उसे बिना कमीज के ही नंगे बदन रहना होगा। हिन्दुओं ने यह जान लिया है कि निरपेक्ष ब्रह्मतत्त्व की उपलब्धि, धारणा या प्रकाश केवल सापेक्ष के सहारे ही हो सकता है एवं मूर्तियाँ, क्रास या चाँद तो केवल आध्यात्मिक उन्नति के सहायकरूप हैं। वे मानो बहुतसी खूँटियाँ हैं जिनमें धार्मिक भावनाएँ अटकायी जाती हैं। ऐसी बात नहीं है कि प्रत्येक के लिए इन साधनों की आवश्यकता हो, पर बहुतों के लिए तो ये आवश्यक हुआ ही करते हैं; और जिनको अपने लिए इन साधनों की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती, उन्हें यह कहने का कोई अधिकार नहीं कि इन साधनों

का आश्रय लेना अनुचित है।

यहाँ एक बात बतला देना आवश्यक है कि भारतवर्ष में मूर्ति-पूजा कोई भयावह या जघन्य बात नहीं है, वह व्यभिचार की जननी नहीं है, वरन् वह तो अविकसित मन के लिए उच्च आध्यात्मिक भाव को ग्रहण करने का उपाय है। अवश्य, हिन्दुओं के बहुतेरे दोष हैं; पर यह ध्यान रखिये कि उनके वे दोष अपने शरीर को दण्ड देने तक ही सीमित हैं, वे कभी भी अन्य धर्मावलम्बियों का गला काटने नहीं जाते। एक धर्मान्ध हिन्दू भले ही चिता पर अपने आपको जला डाले, पर वह विधर्मियों को जलाने के लिए अग्नि कभी भी प्रज्वलित नहीं करेगा, जैसा कि यूरोप में 'इन्क्विजिशन' (Inquisition) के जमाने में ईसाइयों ने किया था! फिर भी इस बात के लिए उसका धर्म इससे अधिक दोषी नहीं समझा जा सकता, जितना कि डाइनों को जलाने का दोष ईसाई धर्म पर मढ़ा जा सकता है।

अतः, हिन्दुओं की दृष्टि में समस्त धर्मजगत् भिन्न भिन्न रुचि-वाले स्त्री-पुरुषों का, विभिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में से होते हुए ईश्वरलाभ के उस एक ही लक्ष्य की ओर यात्रा करना है, अग्रसर होना है। प्रत्येक धर्म जड़भावापन्न मानव को ब्रह्म में परिणत करने में प्रयत्नशील है और वही ईश्वर इन समस्त धर्मों का प्रेरक है। तो फिर ये सब धर्म इतने परस्परविरोधी क्यों हैं? हिन्दुओं का कहना है कि ये विरोध केवल आभास मात्र हैं, वास्तविक नहीं; विभिन्न अवस्थापन्न भिन्न भिन्न प्रकृतिवाले मनुष्यों को उपयोगी होने के लिए उस एक ही सत्य ने इस प्रकार परस्परविरुद्ध भाव धारण किये हैं।

एक ही ज्योति भिन्न भिन्न रंग के काँच में से भिन्न भिन्न रूप

से प्रकट होती है। विभिन्न स्वभाववाले लोगों के लिए उपयुक्त होने की दृष्टि से यह वैचित्र्य आवश्यक भी है। परन्तु प्रत्येक के अन्तस्तल में—प्रत्येक धर्म म उसी एक सत्य का राजत्व है। कृष्णावतार में भगवान् ने हिन्दुओं को यह उपदेश दिया है, "प्रत्येक धर्म में, मैं मौक्तिकमाल में सूत्र की तरह पिरोया हुआ हूँ।" "जहाँ भी तुम्हें मानवसृष्टि को उन्नत बनानेवाली और पावन करनेवाली अतिशय पवित्रता और असाधारण शक्ति दिखायी दे, तो जान लो कि वह मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुआ है।"* और इस शिक्षा का परिणाम क्या हुआ है? सारे संसार को मेरी यह चुनौती है कि वह समग्र संस्कृत दर्शनशास्त्र में मुझे एक ऐसी उक्ति तो दिखा दे, जिसमें यह बताया गया हो कि केवल हिन्दुओं का ही उद्धार होगा और दूसरों का नहीं! भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास का वचन है, "हमारी जाति और सम्प्रदाय की सीमा के बाहर भी पूर्णत्व को पहुँचे हुए मनुष्य हैं।"‡

एक बात और। ऐसा प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वर में ही अपने सभी भावों को केन्द्रित करनेवाला हिन्दू अज्ञेयवादी बौद्ध धर्म और निरीश्वरवादी जैन धर्म पर कैसे श्रद्धा रख सकता है? यद्यपि बौद्ध तथा जैन ईश्वर पर निर्भर नहीं रहते, तथापि उनके धर्म में "मनुष्य में देवत्व या ईश्वरत्व का विकास" इस महान्

---

* मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।—गीता, ७।७

. . .

यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

—गीता, १०।४१

‡ अन्तरा चापि तु तद्दृष्टः।

—वेदान्त सूत्र, ३।४।३६

सत्य पर ही पूरा जोर दिया गया है और यही प्रत्येक धर्म का भी केन्द्रस्थ सत्य है। उन्होंने जगत्पिता जगदीश्वर को भले न देखा हो, पर उसके पुत्रस्वरूप, आदर्श मनुष्य बुद्धदेव या 'जिन' को तो देखा है। और जिसने पुत्र को देख लिया, उसने पिता को भी देख लिया!

भाइयो! हिन्दुओं के धार्मिक विचारों का यही संक्षिप्त विवरण है। हो सकता है कि हिन्दू अपनी सम्पूर्ण योजना के अनुसार कार्य न कर सका हो, पर यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म हो सकता तो वह ऐसा ही होगा, जो देश या काल से मर्यादित न हो; जो उस अनन्त भगवान् के समान ही अनन्त हो, जिस भगवान् के सम्बन्ध में वह उपदेश देता है; जिसकी ज्योति श्रीकृष्ण के भक्तों पर और ईसा के प्रेमियों पर, सन्तों पर और पापियों पर समान रूप से प्रकाशित होती हो; जो न तो ब्राह्मणों का हो, न बौद्धों का, न ईसाइयों का और न मुसलमानों का, वरन् इन सभी धर्मों का समष्टिस्वरूप होते हुए भी जिसमें उन्नति का अनन्त पथ खुला रहे; जो इतना व्यापक हो कि अपनी असंख्य प्रसारित बाहुओं द्वारा सृष्टि के प्रत्येक मनुष्य का आलिंगन करे और उसे अपने हृदय में स्थान दे, चाहे वह मनुष्य हिंसक पशु से किंचित् ही उठा हुआ, अति नीच, बर्बर, जंगली ही क्यों न हो, अथवा अपने मस्तिष्क और हृदय के सद्गुणों के कारण मानव-समाज से इतना ऊँचा क्यों न उठ गया हो कि लोग उसकी मानवी प्रकृति में शंका करते हुए देवता के समान उसकी पूजा करते हों। वह विश्वधर्म ऐसा होगा कि उसमें अविश्वासियों पर अत्याचार करने या उनके प्रति असहिष्णुता प्रकट करने की नीति नहीं रहेगी; वह धर्म प्रत्येक स्त्री और पुरुष के ईश्वरीय

स्वरूप को स्वीकार करेगा और उसका सम्पूर्ण बल मनुष्यमात्र को अपनी सच्ची, ईश्वरी प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए सहायता देने में ही केन्द्रित रहेगा।

आप ऐसा सार्वभौमिक उदार धर्म सामने रखिये, और सारे राष्ट्र आपके अनुयायी बन जायेंगे! सम्राट् अशोक की धर्मसभा केवल बौद्धधर्मियों की ही थी। अकबर बादशाह की धर्मपरिषद् अधिक उपयुक्त होती हुई भी, केवल दरबार की शोभा की ही वस्तु थी। पर 'प्रत्येक धर्म में ईश्वर है' इस बात की घोषणा दुनिया के सभी प्रदेशों में करने का भार नियति ने अमरीका के लिए ही रख छोड़ा था।

वही परमेश्वर जो हिन्दुओं का ब्रह्म, पारसियों का अहुरमज्द, बौद्धों का बुद्ध, मुसलमानों का अल्ला, यहूदियों का जिहोवा और ईसाइयों का स्वर्गस्थ पिता है, आपको अपने उदार उद्देश्य को कार्यान्वित करने की शक्ति प्रदान करे। पूर्वगगन में नक्षत्र उदित हुआ; कभी धुंधला और कभी देदीप्यमान होते हुए, धीरे धीरे पश्चिम की ओर यात्रा करते करते उसने समस्त जगत् की परिक्रमा कर डाली और अब वह पुनः पूर्वक्षितिज में सहस्रगुनी अधिक उज्ज्वलता के साथ उदित हो रहा है!

ऐ स्वाधीनता की मातृभूमि कोलम्बिया *, तू धन्य है! तूने अपने पड़ोसियों के रक्त से अपना हाथ कभी कलंकित नहीं किया, तूने अपने प्रतिवेशियों का सर्व अपहरण कर सहज में ही धनी और सम्पन्न होने की चेष्टा नहीं की। अतएव तू ही सभ्य जातियों में अग्रणी होकर शान्तिपताका फहराने की अधिकारिणी है।

---

* अमरीका का दूसरा नाम। कोलम्बस ने इसका आविष्कार किया था, इसलिए इसका नाम कोलम्बिया पड़ा।

हिन्दू धर्म के मूल तत्त्व

विषय तो बहुत बड़ा है, पर समय है कम। एक ही व्याख्यान में हिन्दुओं के धर्म का पूरा पूरा विश्लेषण करना असम्भव है। इसलिए मैं आप लोगों के समीप अपने धर्म के मूल तत्त्वों का, जितनी सरल भाषा में हो सके, वर्णन करूँगा। जिस हिन्दू नाम से परिचित होना अब हमारी चाल हो गयी है, उसकी इस समय कुछ भी सार्थकता नहीं है। क्योंकि उस शब्द का अर्थ था—सिन्धुनद के पार बसनेवाले। प्राचीन फारसियों के गलत उच्चारण से यह सिन्धु शब्द 'हिन्दू' हो गया है। वे सिन्धुनद के इस पार रहनेवाले सभी लोगों को हिन्दू कहते थे। इस प्रकार हिन्दू शब्द हमें मिला है। फिर मुसलमानों के शासन-काल से हम वह शब्द अपने ऊपर लगाते चले आये हैं। अवश्य इस शब्द का व्यवहार करने में कोई हानि नहीं, पर पहले ही कह चुका हूँ कि अब इसकी कोई सार्थकता नहीं रही; क्योंकि आप लोगों को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि वर्तमान समय में सिन्धुनद के इस पारवाले सब लोग प्राचीन काल की तरह एक ही धर्म को नहीं मानते। इसलिए उस शब्द से केवल हिन्दू मात्र का ही बोध नहीं होता, बल्कि मुसलमान, ईसाई, जैन तथा भारत के अन्यान्य अधिवासियों का भी होता है। अतः मैं हिन्दू शब्द का प्रयोग नहीं करूँगा। तो हम किस शब्द का प्रयोग करें?—हम वैदिक (अर्थात् वेद के माननेवाले), अथवा वैदान्तिक शब्द का—जो उससे भी अच्छा है—प्रयोग कर सकते हैं। जगत् के अधिकांश मुख्य धर्म कई एक विशेष विशेष ग्रन्थों को प्रमाणस्वरूप मान

लेते हैं। लोगों का विश्वास है कि ये ग्रन्थ ईश्वर या और किसी दैवी पुरुषविशेष के वाक्य हैं, इसलिए ये ग्रन्थ ही उनके धर्मों की नींव हैं। पाश्चात्य आधुनिक पण्डितों के मतानुसार, इन ग्रन्थों में से हिन्दुओं के वेद ही सब से प्राचीन हैं। अतः वेदों के विषय में हमें कुछ जानना चाहिए।

वेद नामक शब्दराशि किसी पुरुष के मुँह से नहीं निकली है। उसके साल और तारीख का अभी निर्णय नहीं हुआ है; और न आगे चलकर होगा ही। हम हिन्दुओं के मतानुसार वेद अनादि और अनन्त हैं। एक विशेष बात आप लोगों को स्मरण रखनी चाहिए। वह यह कि जगत् के अन्यान्य धर्म अपने शास्त्रों को यही कहकर प्रामाणिक सिद्ध करते हैं कि वे ईश्वर नामक व्यक्ति अथवा ईश्वर के किसी दूत या पैगम्बर की वाणी हैं; पर हिन्दू कहते हैं, वेदों का दूसरा कोई प्रमाण नहीं है, वेद स्वतःप्रमाण हैं, क्योंकि वेद अनादि अनन्त हैं, वे ईश्वरीय ज्ञानराशि हैं। वेद कभी लिखे नहीं गये, न कभी सृष्ट हुए, वे अनादि काल से वर्तमान हैं। जैसे सृष्टि अनादि और अनन्त है, वैसे ही ईश्वर का ज्ञान भी। 'वेद' का अर्थ है यह ईश्वरीय ज्ञान की राशि। विद् धातु का अर्थ है जानना। वेदान्त नामक ज्ञानराशि ऋषि नामधारी पुरुषों के द्वारा आविष्कृत हुई है। ऋषि शब्द का अर्थ है मन्त्रद्रष्टा; पहले ही से वर्तमान ज्ञान को उन्होंने प्रत्यक्ष किया है, वह ज्ञान तथा भाव उनके अपने विचार का फल नहीं था। जब कभी आप यह सुनें कि वेदों के अमुक अंश के ऋषि अमुक हैं, तब यह मत सोचिये कि उन्होंने उसे लिखा या अपनी बुद्धि द्वारा बनाया है; बल्कि पहले ही से वर्तमान भावराशि के वे द्रष्टा मात्र हैं—वे भाव अनादि काल से ही इस संसार में विद्यमान थे,

ऋषि ने उनका आविष्कार मात्र किया। ऋषिगण आध्यात्मिक आविष्कारक थे।

यह वेद नामक ग्रन्थराशि प्रधानतः दो भागों में विभक्त है—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड में नाना प्रकार के याग-यज्ञों की बातें हैं, उनमें अधिकांश वर्तमान युग के अनुपयोगी होने के कारण परित्यक्त हुए हैं, और कुछ अभी किसी न किसी रूप में मौजूद हैं। कर्मकाण्ड के मुख्य विषय—जैसे साधारण मनुष्यों के कर्तव्य, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी तथा संन्यासी, इन विभिन्न आश्रमियों के भिन्न भिन्न कर्तव्य—अब भी थोड़े-बहुत माने जा रहे हैं। दूसरा भाग ज्ञानकाण्ड हमारे धर्म का आध्यात्मिक अंश है। उसका नाम वेदान्त है, अर्थात् वेदों का अन्तिम भाग—वेदों का चरम लक्ष्य। वेद-ज्ञान के इस सार का नाम है वेदान्त अथवा उपनिषद् और भारत के सभी सम्प्रदायों को—द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, अद्वैतवादी अथवा सौर, शाक्त, गाणपत्य, शैव, वैष्णव—जो कोई हिन्दू धर्म के भीतर रहना चाहे उसी को वेदों के इस उपनिषद्-अंश को मानना पड़ेगा। वे उपनिषदों की अपनी अपनी रुचि के अनुसार व्याख्या करें, पर उनको इनका प्रामाण्य अवश्य मानना पड़ेगा। इसीलिए हम हिन्दू शब्द के बदले वैदान्तिक शब्द का प्रयोग करना चाहते हैं। भारतवर्ष के सभी प्राचीन दार्शनिकों को वेदान्त का प्रामाण्य स्वीकार करना पड़ा; और आजकल भारत में हिन्दू धर्म की चाहे जितनी शाखा-प्रशाखाएँ हों—उनमें से कुछ चाहे कितनी विसदृश क्यों न मालूम हों, उनके उद्देश्य चाहे कितने जटिल क्यों न प्रतीत हों—जो कोई उनकी अच्छी तरह छान-बीन करेगा वही समझेगा कि उनके भाव उपनिषदों से ही लिये गये हैं। उन

उपनिषदों के भाव हमारी जाति की अस्थिमज्जा में ऐसे घुस गये हैं कि यदि कोई हिन्दू धर्म की बहुत ही अमार्जित शाखाओं के भी रूपक-तत्त्व की आलोचना करेगा, तो वह समय समय पर यह देखकर दंग रह जायगा कि उपनिषदों के ही तत्त्व इन धर्मों में रूपक के तौर पर वर्णित हुए हैं। उपनिषदों के बड़े बड़े आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्व आज हमारे घरों में पूजा के प्रतीक-रूप में परिवर्तित होकर विराजमान हैं। इस प्रकार हम आजकल जितने यन्त्र-प्रतिमा आदि का व्यवहार करते हैं वे सब के सब वेदान्त से आये हैं; क्योंकि वेदान्त में उनका रूपक-भाव से प्रयोग किया गया है, फिर क्रमशः वे भाव जाति के मर्मस्थान में प्रवेश कर अन्त में यन्त्र-प्रतिमादि के रूप में उसके दैनिक जीवन के अंशस्वरूप बन गये हैं।

वेदान्त के बाद ही स्मृतियों का प्रामाण्य है। ये ऋषिलिखित ग्रन्थ हैं, पर इनका प्रामाण्य वेदान्त के अधीन है, क्योंकि वे हमारे लिए वैसे ही हैं, जैसे दूसरे धर्मवालों के लिए उनके शास्त्र। हम यह मानते हैं कि विशेष ऋषियों ने ये स्मृतियाँ रची हैं; इस दृष्टि से अन्यान्य धर्मों के शास्त्रों का जैसा प्रामाण्य है, स्मृतियों का भी वैसा है; पर स्मृतियाँ हमारा चरम प्रमाण नहीं। यदि स्मृतियों का कोई अंश वेदान्त का विरोधी हो तो उसे त्यागना पड़ेगा, उसका कोई प्रामाण्य न रहेगा। फिर ये स्मृतियाँ युग युग में बदलती भी गयी हैं। हम शास्त्रों में पढ़ते हैं—सत्युग में अमुक स्मृतियों का प्रामाण्य है, फिर त्रेता, द्वापर और कलि में से प्रत्येक युग में अन्यान्य स्मृतियों का। देश-काल-पात्र के परिवर्तन के अनुसार आचार आदि का परिवर्तन हो रहा है; और स्मृतियाँ प्रधानतः इन आचारों की नियामक होने से समय-समय

पर उनको भी बदलना पड़ा। मैं चाहता हूँ कि आप लोग इस बात को अच्छी तरह याद रखें। वेदान्त में धर्म के जिन मूल तत्त्वों की व्याख्या हुई है वे अपरिवर्तनीय हैं। क्यों ?—इसलिए कि वे मनुष्य तथा प्रकृतिसम्बन्धी अपरिवर्तनीय तत्त्वों पर प्रतिष्ठित हैं, वे कभी बदल नहीं सकते। आत्मा, स्वर्ग आदि के तत्त्व कभी बदलने के नहीं। हजारों वर्ष पहले वे जैसे थे, अब भी वैसे हैं और लाखों वर्षों बाद भी वैसे ही रहेंगे। परन्तु जो धर्मानुष्ठान हमारी सामाजिक अवस्था और पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर रहते हैं, समाज के परिवर्तन के साथ वे भी बदल जायँगे। विशिष्ट विधि केवल समयविशेष के लिए हितकर और उपयोगी होगी, न कि दूसरे समय के लिए। इसीलिए हम देखते हैं कि किसी समय किसी खाद्यविशेष का विधान रहा है, फिर दूसरे समय वह निषिद्ध है। वह खाद्य उस विशेष समय के लिए उपयोगी था; पर समय, जलवायु और ऋतु आदि के परिवर्तन तथा अन्यान्य कारणों से वह उस काल के लिए अनुपयोगी ठहरने से स्मृति ने उसे निषिद्ध ठहरा दिया है। इसलिए यह स्वतः प्रतीत होता है कि यदि वर्तमान समय में हमारे समाज में किसी परिवर्तन की जरूरत हो, तो वह अवश्य ही करना पड़ेगा। ऋषि लोग आकर दिखा देंगे कि किस तरह परिवर्तन साधित करना होगा, परन्तु हमारे धर्म के मूल तत्त्वों का एक कण भी परिवर्तित न होगा; वे ज्यों के त्यों रहेंगे।

इसके बाद पुराण आते हैं। पुराण पंचलक्षण हैं। उनमें इतिहास, सृष्टितत्त्व, विविध रूपकों के द्वारा दार्शनिक तत्त्वों के व्याख्यान इत्यादि नाना विषय हैं। वैदिक धर्म का सर्वसाधारण जनता में प्रचार करने के लिए पुराणों की रचना हुई। जिस

भाषा में वेद लिखे हुए हैं वह अत्यन्त प्राचीन है; पण्डितों में से भी बहुत ही कम लोग उन ग्रन्थों का समय निर्णय कर सकते हैं। पुराण उस समय के लोगों की भाषा में लिखे गये हैं। जिसे हम आधुनिक संस्कृत कह सकते हैं। वे पण्डितों के लिए नहीं, किन्तु साधारण लोगों के लिए हैं, क्योंकि साधारण लोग दार्शनिक तत्त्व नहीं समझ सकते हैं। उन्हें वे तत्त्व समझाने के लिए स्थूल रूप से साधुओं, राजाओं और महापुरुषों के जीवनचरित्र तथा उस जाति के बीच में जो घटनाएँ हुई थीं, इन सब बातों के सहारे शिक्षा दी जाती थी। धर्म के सनातन तत्त्वों को दृष्टान्त द्वारा समझाने के लिए ही ऋषियों ने इनका उपयोग किया था।

इसके बाद तन्त्र हैं। ये कई एक विषयों में प्राय: पुराणों ही के समान हैं और उनमें से कुछ म कर्मकाण्ड के अन्तर्गत प्राचीन यागयज्ञों की पुन:प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया गया है।

ये सब ग्रन्थ हिन्दुओं के शास्त्र हैं। और जिस जाति में इतने अधिक शास्त्र विद्यमान हैं और जिसने अगणित वर्षों से दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारों में अपने को नियोजित किया है, उसमें इतने अधिक सम्प्रदायों का उद्भव होना बहुत ही स्वाभाविक है। आश्चर्य की बात तो यह है कि और भी हजारों सम्प्रदाय क्यों न हुए। किसी किसी विषय पर इन सम्प्रदायों में आपस के अत्यन्त भेद हैं। सम्प्रदायों के धार्मिक विचारों के इन छोटे-छोटे भेदों का पता लगाने का अब हमें अवकाश नहीं। इसलिए हम सम्प्रदायों की उन साधारण बातों, उन मूल तत्त्वों ही की आलोचना करेंगे जिन पर हिन्दू मात्र का विश्वास रहना चाहिए।

पहले सृष्टि की बात लीजिये। सभी हिन्दू मानते हैं कि यह संसार, यह प्रकृति या माया अनादि और अनन्त है। जगत् किसी

एक विशेष दिन में रचा गया हो सो बात नहीं। एक ईश्वर ने आकर इस जगत् की सृष्टि की और बाद में वह सो रहा, यह हो नहीं सकता। सृष्टिकारिणी शक्ति अभी वर्तमान है। ईश्वर अनन्त काल से सृष्टि रच रहा है—वह कभी आराम नहीं लेता। गीता का वह अंश स्मरण कीजिये जहाँ भगवान श्रीकृष्ण कह रहे हैं, "यदि मैं क्षण भर के लिए आराम लूँ, तो यह जगत् नष्ट हो जाय।"*

यदि वह सृष्टि-शक्ति जो दिनरात हमारे चारों तरफ काम कर रही है, क्षण भर के लिए चुप रहे, तो यह संसार ही मिट जाय। ऐसा समय कभी न था जब वह शक्ति विश्व भर में क्रियाशील न थी; पर हाँ युगान्त में प्रलय हुआ करता है। हमारे संस्कृत के 'सृष्टि' शब्द का अंग्रेजी प्रति शब्द Creation नहीं है। खेद का विषय है कि अंग्रेजी में Creation शब्द का अर्थ है—असत् से सत् की उत्पत्ति—अभाव से भाव वस्तु का उद्भव—शून्य से संसार का उदय—यह एक भयंकर और अयौक्तिक मत है। ऐसी बेढंगी बात मान लेने को कहकर मैं आप लोगों की बुद्धि व विचार शक्ति का अपमान करना नहीं चाहता। 'सृष्टि' का ठीक प्रतिशब्द है Projection। सारी प्रकृति सदा विद्यमान रहती है, केवल प्रलय के समय वह क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्म होती जाती है और अन्त में एकदम अव्यक्त हो जाती है। फिर थोड़ी देर तक विश्राम के बाद मानो कोई उसे बाहर ढकेल देता है। तब पहले ही की तरह समवाय, वैसा ही क्रम-विकास, वैसे ही रूपों का प्रकाशन होता रहता है। थोड़ी देर

* यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः
....उपहन्यामिमाः प्रजाः।—गीता ३:२३-२४

तक यह खेल चलता रहता है, फिर वह नष्ट हो जाता है, सूक्ष्म से सूक्ष्म हो जाता है और अन्त में लीन हो जाता है। फिर वह निकल आता है। अनन्त काल से वह लहरों की चाल से एक बार सामने आ जाता है और फिर पीछे हट जाता है। देश, काल, निमित्त तथा अन्यान्य सब कुछ इसी प्रकृति के अन्तर्गत हैं। इसीलिए यह कहना कि सृष्टि का आदि है बिलकुल निरर्थक है। सृष्टि का आदि है अथवा अन्त, यह बात ही नहीं उठ सकती; इसीलिए जहाँ कहीं हमारे शास्त्रों में सृष्टि के आदि-अन्त का उल्लेख हुआ है, वहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि उससे युग-विशेष के आदि-अन्त से मतलब है। उसका दूसरा अर्थ है ही नहीं।

यह सृष्टि किसने की ? ईश्वर ने। अंग्रेजी में God शब्द का जो प्रचलित अर्थ है उससे मेरा मतलब नहीं। संस्कृत 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग करना ही सब से अधिक युक्तिसंगत है। वही इस जगत्-प्रपंच का साधारण कारण है। वह ब्रह्म क्या है? वह नित्य, नित्य शुद्ध, सदा जाग्रत, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, परमदयामय, सर्वव्यापी, निराकार अखण्ड है। वह इस जगत् की सृष्टि करता है। अब यदि यह कहें कि यही ब्रह्म संसार का स्रष्टा और नित्यविधाता है तो इसमें दो आपत्तियाँ उठ खड़ी होती हैं।

हम देखते हैं कि जगत् में वैषम्य है। एक मनुष्य जन्मसुखी है, तो दूसरा जन्मदु:खी; एक धनी है तो दूसरा गरीब। ऐसा वैषम्य क्यों ? फिर यहाँ निष्ठुरता भी है, क्योंकि यहाँ एक का जीवन दूसरे की मृत्यु के ऊपर निर्भर करता है। एक प्राणी दूसरे को टुकड़े टुकड़े कर डालता है, और हर एक मनुष्य अपने भाई का गला दबाने की चेष्टा करता है, यह प्रतिद्वन्द्विता, निष्ठुरता,

घोर अत्याचार और दिन रात की आह, जिसे सुनकर कलेजा फट जाता है—यही हमारे संसार का हाल है। यदि यही ईश्वर की सृष्टि हुई तो वह ईश्वर निष्ठुर से भी बदतर है, उस शैतान से भी गया-गुजरा है जिसकी मनुष्य ने कभी कल्पना की हो। वेदान्त कहता है कि यह ईश्वर का दोष नहीं है जो जगत् में यह वैषम्य, यह प्रतिद्वन्द्विता वर्तमान है। तो किसने इसकी सृष्टि की? स्वयं हमीं ने। एक बादल सभी खेतों पर समान रूप से पानी बरसाता रहता है। पर जो खेत अच्छी तरह जोता हुआ है वही इस वर्षा से लाभ उठाता है। एक दूसरा खेत जो जोता नहीं गया, या जिसकी देखरेख नहीं की गयी, उससे लाभ नहीं उठा सकता। यह बादल का दोष नहीं। ईश्वर की कृपा नित्य और अपरिवर्तनीय है, हमीं लोग वैषम्य के कारण हैं। अच्छा, तो कोई जन्म से ही सुखी है और दूसरा दुःखी, इस वैषम्य का कारण क्या हो सकता है? वे तो ऐसा कुछ करते नहीं दिखते जिससे यह वैषम्य उत्पन्न हो। उत्तर यह है कि इस जन्म में न सही, पूर्व जन्म में उन्होंने अवश्य किया होगा, और यह वैषम्य पूर्व जन्म के कर्मों ही के कारण हुआ है।

अब हम दूसरे तत्त्व पर, जिसमें केवल हिन्दू नहीं बल्कि सभी बौद्ध और जैन भी सहमत हैं, विचार करेंगे। हम सभी यह स्वीकार करते हैं कि सृष्टि की तरह जीवन भी अनादि अनन्त है। शून्य से इसकी उत्पत्ति नहीं हुई, क्योंकि यह हो ही नहीं सकता। ऐसा जीवन भला कौन माँगेगा? हरएक वस्तु, जिसकी काल में उत्पत्ति हुई है, काल ही में लीन होगी। यदि जीवन कल ही शुरू हुआ हो तो अगले दिन इसका अन्त भी होगा, और एकान्त नाश इसका फल होगा। जीवन अवश्य रहा होगा।

आजकल यह बात समझने में बहुत विचारशक्ति की आवश्यकता नहीं, क्योंकि आधुनिक सभी विज्ञान इस विषय में हमें सहायता दे रहे हैं—वे जड़ जगत् की घटनाओं से हमारे शास्त्रों में लिखे हुए तत्त्वों की व्याख्या कर रहे हैं। आप लोग यह जानते ही हैं कि हममें से प्रत्येक मनुष्य अनादि अतीत कर्मसमष्टि का फल-स्वरूप है, बच्चा जब जगत् में पैदा होता है तब वह प्रकृति के हाथ से एकदम निकल नहीं आता—जैसे कवि बड़े आनन्द से वर्णन करते हैं। उस पर अनादिकाल के कर्मों का बोझा लदा रहता है। इसमें चाहे भला हो चाहे बुरा, वह यहाँ अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने आता है। उसी से इस वैषम्य की सृष्टि हुई है। यही कर्मविधान है। हममें से प्रत्येक मनुष्य अपना अपना अदृष्ट गढ़ रहा है। इसी मतवाद द्वारा अदृष्टवाद का खण्डन तथा ईश्वर पर लगाया जानेवाला निष्ठुरता-दोष असिद्ध होता है; हम—हमीं लोग अपने फलभोगों के लिए जिम्मेदार हैं—दूसरा कोई नहीं। हमीं कार्य हैं और हमीं कारण। अतः हम स्वतन्त्र हैं। यदि मैं दुःखी हूँ तो यह अपने ही किये का फल है और उसी से पता चलता है कि जो मैं चाहूँ तो सुखी भी हो सकता हूँ। यदि मैं अपवित्र हूँ तो वह भी मेरा अपना ही किया हुआ है, और उसी से ज्ञान होता है कि जो मैं चाहूँ तो पवित्र भी हो सकता हूँ। मनुष्य की इच्छाशक्ति किसी भी घटना के अधीन नहीं। इसके सामने—मनुष्य की प्रबल, विराट, अनन्त इच्छाशक्ति और स्वतन्त्रता के सामने—सभी शक्तियाँ, यहाँ तक कि प्राकृतिक शक्तियाँ भी सिर झुका देंगी, दब जायँगी और इसकी गुलामी करेंगी।

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यही होगा कि आत्मा क्या है? हमारे

शास्त्रों में कहे हुए ईश्वर को भी हम विना आत्मा को जाने नहीं समझ सकते। भारत में और भारत के बाहर भी—बाह्य प्रकृति की आलोचना द्वारा सर्वातीत सत्ता की झलक पाने की चेष्टाएँ हो चुकी हैं और हम सभी जानते हैं कि इनका क्या शोचनीय फल निकला। संसारातीत वस्तु की झलक पाने के बदले, जितनी ही हम जड़ जगत् की आलोचना करते हैं उतने ही हम जड़भावापन्न होते जाते हैं। जड़ जगत् से हम जितना सरोकार रखते हैं, उतना ही हमारा बचा-खुचा धर्मभाव भी काफूर हो जाता है; इसीलिए धर्मभाव का—ब्रह्मवस्तु के ज्ञान का यह रास्ता नहीं। अपने अन्दर, अपनी आत्मा के अन्दर, उसका अनुसन्धान करना होगा। बाह्य जगत् की घटनाएँ उस सर्वातीत अनन्त सत्ता के विषय में हमें कुछ नहीं बताती हैं। केवल अन्तर्जगत् के अन्वेषण से ही उसका पता चलता है। अतः आत्मतत्त्व के अन्वेषण तथा उसके विश्लेषण द्वारा ही परमात्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त होना सम्भव है।

जीवात्मा के स्वरूप के विषय में भारत के विभिन्न सम्प्रदायों में मतभेद है सही, पर उनमें कुछ बातों म ऐक्य भी है। हम सभी मानते हैं कि सभी जीवात्माएँ आदि-अन्त-रहित हैं और स्वरूपतः अविनाशी हैं; और यह भी कि सर्वविध शक्ति, आनन्द, पवित्रता, सर्वव्यापिता और सर्वज्ञता प्रत्येक आत्मा में अन्तर्निहित है। यह एक महान् तत्त्व है जिसे हमें याद रखना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक प्राणी में, वह चाहे जितना दुर्बल या दुष्ट, बड़ा या छोटा हो, वही सर्वव्यापी, सर्वज्ञ आत्मा विराजमान है। अन्त जो कुछ है वह आत्मा में नहीं, उसके प्रकाश की न्यूनाधिकता में है। मुझमें और एक छोटे से छोटे प्राणी में

अन्तर केवल प्रकाश के तारतम्य में है, पर स्वरूपतः वह और मैं एक ही हैं, वह मेरा भाई है, उसकी और मेरी आत्मा एक ही है। यही सब से महान् तत्त्व है। इसी का भारत ने जगत् में प्रचार किया है। मानवजाति में भ्रातृभाव की जो बात अन्यान्य देशों में सुन पड़ती है उसने भारत में 'समस्त चेतन सृष्टि में भ्रातृभाव' का रूप धारण किया है, जिसमें सभी प्राणी—छोटी छोटी चींटियों तक सभी जानवर—शामिल हैं; ये सभी हमारे शरीर हैं। जैसे हमारा शास्त्र कहता है—"एवं तु पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम्" इत्यादि—"इसी तरह पण्डित लोग उस प्रभु को सर्वभूतमय जानकर सब प्राणियों की ईश्वर-बुद्धि से उपासना करेंगे।" यही कारण है कि भारतवर्ष में गरीबों, जानवरों, सभी प्राणियों और वस्तुओं के बारे में ऐसी करुणापूर्ण धारणाएँ पोषण की जाती हैं। हमारी आत्मासम्बन्धी यह धारणा हमारे लिए साधारण मिलनभूमि है।

अब हम स्वाभाविकतः ईश्वर-तत्त्वसम्बन्धी विचार पर आते हैं। परन्तु एक बात आत्मा के सम्बन्ध में और रह गयी। जो लोग अँग्रेजी भाषा का अध्ययन करते हैं, उन्हें प्रायः Soul and Mind (आत्मा और मन) के अर्थ में भ्रम हो जाता है। संस्कृत 'आत्मा' और अँग्रेजी 'Soul' ये दोनों शब्द भिन्नार्थवाचीय हैं। हम जिसे 'मन' कहते हैं, पश्चिम के लोग उसे Soul (आत्मा) कहते हैं। पश्चिम देशवालों को आत्मा का यथार्थ ज्ञान कभी नहीं था। उन्हें कोई बीस वर्ष हुए संस्कृत दर्शनशास्त्रों से यह ज्ञान प्राप्त हुआ है। यह हमारा स्थूल शरीर है, इसके पीछे मन है, किन्तु यह मन आत्मा नहीं है। यह सूक्ष्म शरीर है—सूक्ष्म तन्मात्राओं का बना हुआ है। यही जन्म और मृत्यु के फेर में

पड़ा हुआ है। परन्तु मन के पीछे है आत्मा—मनुष्यों की यथार्थ सत्ता। इस आत्मा शब्द का अनुवाद Soul या Mind नहीं हो सकता। अतएव हम 'आत्मा' शब्द का ही प्रयोग करेंगे अथवा आजकल के पाश्चात्य दार्शनिकों के मतानुसार 'Self' शब्द का। तुम चाहे जिस शब्द का प्रयोग करो किन्तु तुम्हें यह साफ साफ समझ लेना चाहिए कि आत्मा तथा स्थूल शरीर दोनों मन से सम्पूर्ण पृथक् हैं, और वही आत्मा मन और सूक्ष्म शरीर के साथ, जन्म और मृत्यु के मार्ग में घूम रहा है। और जब समय आता है और उसे सर्वज्ञता तथा पूर्णत्व प्राप्त होते हैं तब वह जन्म-मृत्यु के फन्दे से छूट जाता है तथा पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है। मन या सूक्ष्म शरीर को वह यदि चाहे तो रख सकता है अथवा उसका त्याग कर चिरकाल के लिए सम्पूर्ण स्वाधीन भाव से रह सकता है। आत्मा का लक्ष्य स्वाधीनता ही है। हमारे धर्म की यही विशेषता है। हमारे धर्म में भी स्वर्ग और नरक हैं, परन्तु वे चिरस्थायी नहीं हैं। स्वर्ग और नरक के स्वरूप पर विचार करने से यह सहज ही मालूम हो जायगा कि ये चिरस्थायी नहीं हो सकते। यदि स्वर्ग हो भी, तो वहाँ मर्त्यलोक की ही पुनरावृत्ति होगी। माना कि वहाँ सुख कुछ अधिक है, भोग कुछ ज्यादा है, परन्तु इससे आत्मा का अशुभ ही अधिक होगा। ऐसे स्वर्ग अनेक हैं। इहलोक में जो लोग फलप्राप्ति की इच्छा से सत्कर्म करते हैं वे लोग मृत्यु के बाद ऐसे ही किसी स्वर्ग में इन्द्रादि देवताओं के रूप में जन्म लेते हैं। यह देवत्व एक पदविशेष है। देवता भी किसी समय मनुष्य थे। सत्कर्मों के कारण उन्हें देवत्व की प्राप्ति हुई है। इन्द्र-वरुणादि किसी देवताविशेष के नाम नहीं हैं। हजारों इन्द्र होंगे। राजा नहुष ने

मृत्यु के पश्चात् इन्द्रत्व पाया था। इन्द्रत्व केवल एक पद है। किसी ने अच्छे कर्म किये, जिनके फल से उसकी उन्नति हुई और उसने इन्द्रत्व का लाभ किया, कुछ दिन वह उसी पद पर प्रतिष्ठित रहा, फिर उस देव-शरीर को छोड़ उसने मनुष्य का तन धारण किया। मनुष्य का जन्म सब जन्मों से श्रेष्ठ है। कोई कोई देवता स्वर्गसुख की इच्छा छोड़ मुक्ति-प्राप्ति की चेष्टा कर सकते हैं, परन्तु जिस प्रकार इस संसार के अधिकांश लोग धन, मान और ऐश्वर्य पा जाने पर ऊँचे तत्त्वों को भूल जाते हैं, उसी प्रकार अधिकांश देवता भी ऐश्वर्य के नशे में मतवाले होकर मुक्ति का प्रयत्न नहीं करते। शुभ कर्मों का फल भोग करके वे फिर इस पृथ्वी में नर-शरीर धारण करते हैं। अतएव यह पृथ्वी ही कर्म-भूमि है। इस पृथ्वी ही से हम मुक्तिलाभ कर सकते हैं। अतएव हमें इन स्वर्गों की कोई आवश्यकता नहीं। तो फिर हमें क्या चाहिए?—मुक्ति। हमारे शास्त्र कहते हैं कि अच्छे स्वर्ग में भी तुम प्रकृति के दास हो। बीस हजार वर्ष तक तुमने राज्य-भोग किया; पर इससे हुआ क्या? जब तक तुम्हारा शरीर रहेगा तब तक तुम सुख के दास ही हो, जब तक देश और काल का तुम पर प्रभुत्व है तब तक तुम शर्त बँधे गुलाम ही हो। इसीलिए हमें बहि:प्रकृति और अन्त:प्रकृति—दोनों पर विजय प्राप्त करनी होगी। प्रकृति को तुम्हारे पैरों तले रहना चाहिए और इसे तलवे के नीचे रखकर, इसके बाहर चलकर तुम्हें स्वाधीन भाव से अपनी महिमा में अपने आपको प्रतिष्ठित करना होगा। तब तुम जन्म के अतीत हो गये, अतएव तुम मृत्यु के भी पार जा चुके। तब तुम्हारा सुख दूर हो गया, अतएव तुम दु:ख से भी अलग हो गये। उसी समय तुम सर्वातीत, अव्यक्त,

अविनाशी आनन्द के अधिकारी हुए । यहाँ जिसे हम सुख और कल्याण कहते हैं, वह उसी अनन्त आनन्द का एक कण मात्र है। वही अनन्त आनन्द हमारा लक्ष्य है ।

आत्मा जिस प्रकार अनन्त आनन्दस्वरूप है, उसी प्रकार वह लिंगभेदरहित है। आत्मा के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह पुरुष है या स्त्री। यह स्त्री और पुरुष का भेद तो केवल देह के सम्बन्ध में है। अतएव आत्मा पर स्त्री-पुरुष-भेद का आरोप करना केवल भ्रम है—यह लिंग-भेद शरीर के विषय में ही सत्य है। आत्मा की आयु का भी निर्देश नहीं किया जा सकता। वह पुरातन पुरुष सदा समस्वरूप ही में वर्तमान है।

तो यह आत्मा संसार में बद्ध किस प्रकार हो गयी? इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर शास्त्र देते हैं। अज्ञान ही बन्धन का कारण है। हम अज्ञान के ही कारण बँधे हुए हैं। ज्ञान से अज्ञान दूर होगा। यही ज्ञान हमें अँधेरे के उस पार ले जायगा। तो इस ज्ञानप्राप्ति का क्या उपाय?—भक्तिपूर्वक ईश्वराराधन द्वारा और सर्व भूतों को परमात्मा का मन्दिर समझकर सर्व भूतों से प्रेम करने से ज्ञान होता है। ईश्वर के अनुराग की प्रबलता से ज्ञान का उदय होगा—अज्ञान दूर होगा—सब बन्धन टूट जायेंगे और आत्मा को मुक्ति मिलेगी। हमारे शास्त्रों में परमात्मा के दो रूप कहे गये हैं—सगुण और निर्गुण। सगुण ईश्वर के अर्थ से वे सर्वव्यापी हैं—संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कर्ता हैं—संसार के अनादि जनक तथा जननी हैं। उनके साथ हमारा नित्य भेद है। मुक्ति का अर्थ—उनके सामीप्य और सालोक्य की प्राप्ति है। सगुण ब्रह्म के ये सब विशेषण निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में अनावश्यक और अयौक्तिक हैं, इसलिए त्याज्य कर दिये गये।

वह निर्गुण और सर्वव्यापी पुरुष ज्ञानवान् नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ज्ञान मन का धर्म है। वह चिन्ताशील नहीं कहा जा सकता; क्योंकि चिन्ता ससीम जीवों के ज्ञानलाभ का उपाय मात्र है। वह विचारपरायण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विचार भी ससीम है और दुर्बलता का चिह्न मात्र है। वह सृष्टिकर्ता भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो बन्धनहीन है, मुक्त है, उसे कभी सृष्टि की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उसका बन्धन ही क्या हो सकता है ? बिना कोई प्रयोजन के कोई काम नहीं कर सकता; —उसे फिर प्रयोजन क्या है ? कोई बिना अभाव के कोई काम नहीं कर सकता—तो उसे अभाव क्या है ? वेदों में उसके लिए 'सः' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया, 'सः' शब्द द्वारा निर्देश न करके निर्गुण भाव समझाने के लिए 'तत्' शब्द द्वारा उसका निर्देश किया गया है। 'सः' शब्द के कहे जाने से वह व्यक्तिविशेष हो जाता, इससे जीव-जगत् के साथ उसका सम्पूर्ण पार्थक्य सूचित हो जाता। इसलिए निर्गुणवाचक 'तत्' शब्द का प्रयोग किया गया है और 'तत्' शब्द से निर्गुण ब्रह्म का प्रचार हुआ है। इसी को अद्वैतवाद कहते हैं।

इस निर्गुण पुरुष के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है ? सम्बन्ध यह है कि हम उससे अभिन्न हैं—वह और हम एक हैं। हरएक मनुष्य उसी निर्गुण पुरुष का—जो सब प्राणियों का मूल कारण है—अलग अलग प्रकाश है। ज़ब हम इस अनन्त और निर्गुण पुरुष से अपने को पृथक् सोचते हैं तभी हमारे दुःख की उत्पत्ति होती है और इस अनिर्वचनीय निर्गुण सत्ता के साथ अभेद-ज्ञान ही मुक्ति है। संक्षेपतः, हम अपने शास्त्रों में ईश्वर के इन्हीं दोनों 'भावों' का उल्लेख देखते हैं। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि

निर्गुण ब्रह्मवाद ही सब प्रकार के नीति-विज्ञानों की नींव है। अति प्राचीन काल ही से प्रत्येक जाति में यह सत्य कि 'मनुष्यजाति को आत्मवत् प्यार करना चाहिए'—प्रचारित किया गया है। फिर भारत में तो मनुष्य और इतर प्राणियों में कोई भेद ही नहीं रखा गया—सभी को आत्मवत् प्यार करने का उपदेश किया गया है; परन्तु अन्य प्राणियों को आत्मवत् प्यार करने से क्यों कल्याण होगा, इसका कारण किसी ने नहीं बताया। एकमात्र निर्गुण ब्रह्मवाद ही इसका कारण कहने में समर्थ है। यह तुम तभी समझोगे जब तुम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को एक अखण्डस्वरूप देखोगे—जब तुम समझोगे कि दूसरे को प्यार करना अपने ही को प्यार करना है। दूसरे को हानिं पहुँचाना अपनी ही हानि करना है। तभी हम समझेंगे कि दूसरे का अहित करना क्यों अनुचित है। अतएव, यह निर्गुण ब्रह्मवाद ही नीतिविज्ञान का मूल कारण माना जा सकता है। अद्वैतवाद का प्रसंग उठाते हुए और भी अनेक बातों की याद आ जाती है। सगुण ईश्वर पर विश्वास हो तो हृदय में कैसा अपूर्व प्रेम उमड़ता है, यह मैं जानता हूँ। मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि भिन्न भिन्न समय की आवश्यकता-नुसार मनुष्यों पर भक्ति का कैसा प्रभाव पड़ा है। परन्तु हमारे देश में अब रोने का समय नहीं है—अब कुछ वीरता की आवश्यकता है। इस निर्गुण ब्रह्म पर विश्वास होने से सब प्रकार के कुसंस्कारों से छूटकर, "मैं ही वह निर्गुण ब्रह्म हूँ"—इस ज्ञान के सहारे अपने ही पैरों पर खड़ा होने से हृदय में कैसी अद्भुत शक्ति भर जाती है! और फिर भय? मुझे किसका भय है? मैं प्रकृति के नियमों की भी परवाह नहीं करता। मृत्यु मेरे निकट उपहास है। मनुष्य तब अपनी उस आत्मा की महिमा में

प्रतिष्ठित हो जाता है, जो अनादि है—अनन्त है—अविनाशी है—जिसे कोई शस्त्र छेद नहीं सकता, आग जला नहीं सकती, पानी गीला नहीं कर सकता, वायु सुखा नहीं सकती—जो अनन्त है—जन्म-मृत्यु-रहित है, तथा—जिसकी महत्ता के सामने सूर्य-चन्द्रादि, यहाँ तक कि सारा ब्रह्माण्ड सिन्धु में विन्दु तुल्य प्रतीत होता है—जिसकी महत्ता के सामने देश और काल का भी अस्तित्व लुप्त हो जाता है। हमें इसी महामहिम आत्मा पर विश्वास करना होगा—वीरता तभी आयेगी। तुम जो कुछ सोचोगे, तुम वही हो जाओगे; यदि तुम अपने को दुर्बल समझोगे, तो तुम दुर्बल हो जाओगे; तेजस्वी सोचोगे, तो तेजस्वी बन जाओगे। यदि तुम अपने को अपवित्र सोचोगे, तो तुम अपवित्र हो जाओगे; अपने को शुद्ध सोचोगे, तो शुद्ध हो जाओगे। अद्वैतवाद हमें यह उपदेश नहीं देता कि तुम अपने को कमजोर समझो, किन्तु वह हमें तेजस्वी, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ सोचने को कहता है। यह भाव हममें चाहे अब तक प्रकाशित न हुआ हो, किन्तु वह हमारे भीतर है जरूर। हमारे भीतर सम्पूर्ण ज्ञान, सारी शक्तियाँ, पूर्ण पवित्रता और स्वाधीनता के भाव विद्यमान हैं। तो हम उन्हें जीवन में प्रकाशित क्यों नहीं कर सकते? कारण यह कि उन पर हमारा विश्वास नहीं है। यदि हम इसी समय उन पर विश्वास कर सकें, तो उनका विकास होगा—अवश्य होगा। अद्वैतवाद हमें यही शिक्षा देता है। बिलकुल बचपन से ही बच्चों को बलवान् बनाओ—उन्हें दुर्बलता अथवा किसी बाहरी अनुष्ठान की शिक्षा न दी जाय। वे तेजस्वी हों—अपने ही पैरों पर खड़े हो सकें—साहसी, सर्व-विजयी, सर्वसह हों; परन्तु सब से पहले उन्हें आत्मा की महिमा की शिक्षा

मिलनी चाहिए। यह शिक्षा वेदान्त में—केवल वेदान्त में प्राप्त होगी। वेदान्त में अन्यान्य धर्मों की तरह भक्ति, उपासना आदि की भी अनेक बातें हैं—यथेष्ट मात्रा में हैं, परन्तु मैं जिस आत्म-तत्त्व की बात कह रहा हूँ वही 'जीवन है, शक्तिप्रद है और अत्यन्त अपूर्व है। केवल वेदान्त में ही वह महान् तत्त्व है जिससे सारे संसार के भावों की जड़ हिल जायगी और जड़-विज्ञान के साथ धर्म की एकता सिद्ध होगी।

तुम्हारे निकट मैंने अपने धर्म के मुख्य मुख्य तत्त्व कह दिये। किस प्रकार वे काम में लाये जायँगे—अब उस विषय पर कुछ बातें कहूँगा। मैंने पहले ही कहा है कि भारत की वर्तमान परिस्थिति जैसी है तदनुसार उसमें अनेक सम्प्रदायों का रहना स्वाभाविक है। अतः यहाँ अनेक सम्प्रदाय देखने को मिलते है; और साथ ही यह जानकर आश्चर्य होता है कि ये सम्प्रदाय आपस में लड़ते झगड़ते नहीं। शैव यह नहीं कहता कि हरएक वैष्णव जहन्नुम को जा रहा है, न वैष्णव ही शैव को यह कहता है। शैव कहता है—"यह हमारा मार्ग है, तुम अपने में रहो; अन्त में हम एक ही जगह पहुँचेंगे।" यह बात भारत के सभी मनुष्य जानते हैं। यही इष्टनिष्ठा है। बहुत पुराने जमाने में यह स्वीकृत हो चुका था कि ईश्वर की उपासना के कितने ही तरीके हैं। और यह भी समझ में आ गया था कि भिन्न भिन्न स्वभाव के मनुष्यों के लिए भिन्न भिन्न मार्ग आवश्यक हैं। तुम जिस रास्ते से चलकर ईश्वरलाभ करोगे, वह रास्ता, सम्भव है, मेरे लिए उपयोगी न हो। सम्भव है, उससे मेरी क्षति हो। यह धारणा कि हरएक के लिए एक ही मार्ग है—हानिकर है, अर्थहीन है, और सर्वथा त्याज्य है। संसार के लिए वह बड़ा

बुरा दिन होगा यदि हरएक मनुष्य का धार्मिक मत एक हो जाय और हरएक एक ही मार्ग का अवलम्बन करने लगे। तब तो सब धर्म और सारे विचार नष्ट हो जायँगे, तब तो सब लोगों की स्वाधीन विचार-शक्ति और वास्तविक विचार-भाव नष्ट हो जायँगे! वैचित्र्य ही जीवन का मूल सूत्र है। इसका यदि अन्त हो जाय तो सारी सृष्टि का लोप हो जायेगा। यह भिन्नता जब तक विचारों में रहेगी तब तक हम अवश्य जीते रहेंगे। अतएव इस भिन्नता के कारण हमें लड़ना न चाहिए। तुम्हारा मार्ग तुम्हारे लिए अत्युत्तम है, परन्तु हमारे लिए नहीं। मेरी राह मेरे लिए अच्छी है, पर तुम्हारे लिए नहीं। इसी राह को संस्कृत में 'इष्ट' कहते हैं। अतएव, याद रखो, संसार के किसी भी धर्म से हमारा विरोध नहीं है, क्योंकि हरएक का इष्ट भिन्न है। परन्तु, जब हम मनुष्यों को आकर यह कहते हुए सुनते हैं कि 'एकमात्र मार्ग केवल यही है' और जब भारत जैसे असाम्प्रदायिक देश में सब लोगों को जबरदस्ती अपने मत पर ले आने की उन्हें कोशिश करते देखते हैं, तब हमें हँसी आ जाती हैं; क्योंकि ऐसे मनुष्य जो कि अपने भाइयों को एक दूसरे पथ से ईश्वर की ओर जाते हुए देख उनका सत्यानाश करना चाहते हैं, यदि वे उनके प्रति प्यार की बातें करें, तो यह वृथा है। उनके प्रेम का मोल कुछ नहीं है। प्रेम का प्रचार वे किस तरह कर सकते हैं जब वे किसी को एक दूसरे मार्ग से ईश्वर की ओर जाते नहीं देख सकते? यदि यह प्रेम है तो फिर द्वेष क्या हुआ? हमारा झगड़ा संसार के किसी भी धर्म से नहीं है, चाहे वह मनुष्यों को ईसा की पूजा करने की शिक्षा दे अथवा मुहम्मद की अथवा किसी दूसरे अवतार की। हिन्दू कहते हैं—"प्यारे भाइयो, हम तुम्हारी

सादर सहायता करेंगे, परन्तु तुम भी हमें अपने मार्ग पर चलने दो। यही हमारा इष्ट है। तुम्हारा मार्ग बहुत अच्छा है, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु वह मेरे लिए, सम्भव है, घोर हानिकर हो। मेरी अपनी अभिज्ञता मुझे वताती है कौन सा भोजन मेरे लिए अच्छा है। यह वात डाक्टरों का समूह भी मुझे नहीं बता सकता। इसी प्रकार अपनी निज की अभिज्ञता से मैं जानता हूँ, कौन मार्ग मेरे लिए सर्वोत्तम है।"--यही लक्ष्य है--इष्ट है; और इसलिए हम कहते हैं कि यदि मन्दिर, यन्त्र या प्रतिमा के सहारे तुम अपने भीतर आत्मा में स्थित परमेश्वर को जान सको तो इसके लिए हमारी ओर से बधाई है। चाहे तो दो सौ मूर्तियाँ गढ़ो। यदि किसी अनुष्ठान द्वारा तुम ईश्वर को प्राप्त कर सको तो बिना विलम्ब उसका अनुष्ठान करो। चाहे जो क्रिया हो, चाहे जो अनुष्ठान हो, यदि वह तुम्हें ईश्वर के समीप ले जा रहा है तो उसी को ग्रहण करो, जिस किसी मन्दिर में जाने से तुम्हें ईश्वर-लाभ में सहायता मिले तो वहीं जाकर उपासना करो। परन्तु उन मार्गों पर विवाद मत करो। जिस समय तुम विवाद करते हो, उस समय तुम ईश्वर की ओर नहीं जाते, बढ़ते नहीं, वरन् उल्टे पशुत्व की ओर चले जाते हो।

ये ही कुछ बातें हमारे धर्म की हैं। हमारा धर्म किसी को अलग नहीं करता। वह सभी को समेट लेता है। यद्यपि हमारे जातिभेद और अन्यान्य नियम धर्म के साथ आपस में मिले हुए दिखते हैं तथापि बात ऐसी नहीं। ये नियम हमारी जाति की रक्षा के लिए आवश्यक थे। और जब आत्मरक्षा के लिए इनकी जरूरत न रह जायगी तब स्वभावत: ये नष्ट हो जायेंगे, किन्तु उम्र ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों त्यों ये पुरानी प्रथाएँ मुझे

भली प्रतीत होती जाती हैं। एक समय ऐसा था जब मैं इनमें से अधिकांश को अनावश्यक तथा व्यर्थ समझता था; परन्तु वयोवृद्धि के साथ साथ उनमें से किसी के विरुद्ध कुछ भी कहते मुझे संकोच होता है, क्योंकि उनका आविष्कार सैकड़ों सदियों की अभिज्ञता का फल है। कल का छोकड़ा—कल ही जिसकी मृत्यु हो सकती है—यदि मेरे पास आये और मेरे चिरकाल के संकल्पों को छोड़ देने को कहे और यदि मैं उस लड़के के मतानुसार अपने कामों की गति पलट दूँ, तो अहमक मैं ही हुआ, दूसरा और कोई नहीं। भारतेतर भिन्न भिन्न देशों से, समाज-सुधार के विषय के, यहाँ कितने ही उपदेशक आते हैं, वे भी अधिकांश ऐसे ही हैं। वहाँ के लोगों से कहो कि तुम जब अपने समाज का स्थायी संगठन कर सकोगे तब तुम्हारी बात मानेंगे। तुम किसी भाव को दो दिन के लिए भी धारण नहीं कर सकते। विवाद करके उसको छोड़ देते हो। तुम्हारा जीवन कीड़ों की तरह क्षणस्थायी है। उन्हीं की तरह पाँच मिनट में तुम मर जाते हो। बुलबुले की भाँति तुम्हारी उत्पत्ति होती है और बुलबुले की भाँति तुम्हारा नाश। पहले हमारे जैसा स्थायी समाज संगठित करो। पहले कुछ ऐसे सामाजिक नियमों और प्रथाओं को संचालित करो, जिनकी शक्ति हजारों वर्ष अक्षुण्ण रहे—तब तुम्हारे साथ इस विषय का वार्तालाप करने का समय आयेगा, किन्तु जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक मित्रो, तुम चंचल बालक मात्र हो।

मुझे अपने धर्म के विषय पर जो कुछ कहना था, वह मैं कह चुका। अब मैं तुम्हें उस बात की याद दिलाना चाहता हूँ जिसकी इस समय विशेष आवश्यकता है। धन्यवाद है, महाभारत के प्रणेता महान् व्यासजी को—जिन्होंने कहा है, कलियुग में दान

ही एक मात्र धर्म है। तप और कठिन योगों की साधना इस युग म नहीं होती। इस युग में दान देने तथा दूसरों की सहायता करने की विशेष जरूरत है। दान शब्द का क्या अर्थ है? सब दानों से श्रेष्ठ है—धर्मदान, फिर है विद्या-दान, फिर प्राण-दान; भोजन कपड़े का दान सब से निकृष्ट दान है। जो धर्म का ज्ञान-दान करते हैं वे अनन्त जन्म और मृत्यु के प्रवाह से आत्मा की रक्षा करते हैं। जो विद्यादान करते हैं वे मनुष्य की आँखें खोलते, उन्हें अध्यात्म-ज्ञान का पथ दिखा देते हैं। दूसरे दान, यहाँ तक कि प्राण-दान भी उनके निकट तुच्छ हैं। अतएव तुम्हें समझ लेना चाहिए कि अन्यान्य सब कर्म आध्यात्मिक ज्ञान-दान से निकृष्ट हैं। आध्यात्मिक ज्ञान ही के विस्तार से मनुष्यजाति की सब से अधिक सहायता की जा सकती है।

आध्यात्मिकता का हमारे शास्त्रों में अनन्त स्रोत है, और हमारे इस त्यागी देश को छोड़ और कौनसा देश है जहाँ धर्म की ऐसी प्रत्यक्षानुभूति का दृष्टान्त देखने को मिल सकता है? संसारविषयक कुछ अभिज्ञता मैंने प्राप्त की है। मेरी बात पर विश्वास करो, अन्यान्य देशों में वागाडम्बर बहुत है, किन्तु ऐसे मनुष्य, जिन्होंने धर्म को अपने जीवन में परिणत किया है—यहीं, केवल यहीं हैं। धर्म बातों में नहीं रहता है। तोता बहुत बोलता है—आजकल मशीनें भी खूब बोलती हैं! परन्तु ऐसा जीवन मुझे दिखाओ जिसमें त्याग हो, आध्यात्मिकता हो, तितिक्षा हो, अनन्त प्रेम हो। ये गुण हों तभी मनुष्य धार्मिक होता है। जब कि हमारे शास्त्रों में ऐसे सुन्दर भाव विद्यमान हैं, और हमारे देश में ऐसे महान् जीवनों के उदाहरण विद्यमान हैं, तब तो यह बड़े दुःख का विषय होगा यदि हमारे श्रेष्ठ योगियों के मस्तिष्क और

हृदय से निकली हुई यह चिन्तारत्न-राशि प्रत्येक व्यक्ति की—धनियों और दरिद्रों की—उच्च या नीच, यहाँ तक कि हरएक की—साधारण सम्पत्ति न हो सके। केवल भारत ही में नहीं, विश्व भर में इसे फैलाना चाहिए। हमारे प्रधान कर्मों में से यह भी एक मुख्य कर्म है। और तुम देखोगे कि ज्यों ज्यों तुम दूसरों को मदद पहुँचाने के लिए कर्म करोगे, त्यों त्यों तुम अपना ही कल्याण करते रहोगे। यदि सचमुच तुम अपने धर्म पर प्रीति रखते हो, यदि सचमुच तुम अपने देश को प्यार करते हो तो दुर्बोध शास्त्रों में से रत्न-राशि ले लेकर उसके यथार्थ उत्तराधिकारियों को देने के लिए जी खोलकर इस महान् व्रत की साधना में लग जाओ। और सब से पहले एक बात अत्यन्त आवश्यक है। —हाय ! सदियों की घोर ईर्ष्या द्वारा हम जर्जर हो रहे हैं—हम सदा एक दूसरे का बुरा ताकते हैं ! क्यों अमुक व्यक्ति हमसे बढ़ गया ?—क्यों हम अमुक से बड़े न हो सके ?—सर्वदा यही हमारी चिन्ता बनी रहती है। यहाँ तक कि धर्म में भी हम इसी श्रेष्ठता की ताक में रहते हैं। हम इस प्रकार ईर्ष्या के दास हो गये हैं ! इसे हमें दूर करना चाहिए। यदि इस समय भारत में कोई महापाप है, तो वह यही ईर्ष्या है। हरएक व्यक्ति हुकूमत जताना चाहता है, पर आज्ञापालन करने के लिए कोई भी तैयार नहीं है। और यह सब इसलिए है कि प्राचीन काल के उस अद्भुत ब्रह्मचर्य-आश्रम का अब पालन नहीं किया जाता। पहले आदेशपालन करना सीखो, आदेश देना फिर स्वयं आ जायगा। पहले सर्वदा दास होना सीखो, तभी तुम प्रभु हो सकोगे। ईर्ष्या-द्वेष छोड़ो, तभी तुम उन महान् कर्मों को कर सकोगे जो अभी तक बाकी पड़े हैं। हमारे पूर्वजों ने बड़े बड़े और अद्भुत अद्भुत

कर्म किये हैं, जिनकी समालोचना हम भक्ति और गर्व के साथ करते हैं। परन्तु यह समय हमारे कार्य करने का है, जिसे देखकर हमारी भावी सन्तान गर्व करेगी और हमें योग्य पूर्वज समझेगी। हमारे पूर्व-पुरुष कितने ही श्रेष्ठ और महिमान्वित क्यों न हों, प्रभु के आशीर्वाद से, यहाँ जो लोग हैं उनमें से हरएक वह काम कर सकेगा, जिसके आगे पूर्वजों का भी गौरव-सूर्य मलिन हो जायेगा।

वेदप्रणीत हिन्दू धर्म

हमारा सब से अधिक सरोकार जिस बात से है, वह है धार्मिक विचार—ऐसे विचार जो आत्मा, परमात्मा तथा धर्म से सम्बन्ध रखते हैं। हम संहिताओं को लेंगे। ये स्रोतों के संग्रह हैं और प्राचीनतम आर्य-साहित्य के मानो स्वरूप हैं। आर्यों के ही क्यों, बल्कि सच कहें तो ये संसार के सब से पुरातन साहित्य हैं। इनसे भी प्राचीनतर साहित्य के कुछ छोटे-मोटे अंश यहाँ-वहाँ भले ही रहे हों, पर उन्हें यथार्थतः ग्रन्थ या साहित्य नहीं कहा जा सकता। संकलित ग्रन्थ के रूप में ये ही संसार में प्राचीनतम हैं और इनमें आर्यों की आदिकालीन भावनाएँ, उनकी आकांक्षाएँ तथा उनकी रीति-नीति के सम्बन्ध में उठनेवाले प्रश्न आदि चित्रित हैं। प्रारम्भ में ही हमें एक बड़ी विचित्र कल्पना मिलती है। इन स्तोत्रों में भिन्न भिन्न देवताओं की स्तुतियाँ हैं। इन देवताओं को देव या द्युतिमान् कहा है। ये देव अनेक हैं। एक हैं इन्द्र, दूसरे वरुण, मित्र, पर्जन्य आदि-आदि। एक के बाद एक, पौराणिक और रूपक कथाओं के विभिन्न पात्र क्रमशः हमारे सामने आते हैं। उदाहरणार्थ—वज्रधारी इन्द्र मनुष्य-लोक में वर्षा को रोकनेवाले सर्प पर वज्र का आघात करते दिखते हैं। वे अपने वज्र को फेंकते हैं, सर्प मर जाता है और वर्षा की झड़ी लग जाती है। लोगों में प्रसन्नता छा जाती है और वे यज्ञ द्वारा इन्द्र की पूजा करते हैं। वे यज्ञवेदी वनाते हैं, पशु की बलि देकर उसके पके मांस का नैवेद्य इन्द्र को अर्पण करते हैं। सोमलता उनकी एक प्यारी वस्तु थी। वह लता क्या थी, यह आज कोई

नहीं जानता; उसका अब बिलकुल लोप हो गया है। पर ग्रन्थों से मालूम होता है कि उसे कुचलने से दूध के समान एक रस निकलता था; उसमें खमीर उठाया जाता था और यह भी पता लगता है कि ऐसा सोमरस नशीला होता था। इसे भी वे इन्द्र एवं अन्यान्य देवताओं को निवेदन करते थे और स्वयं भी पीते थे। कभी कभी वे इसे कुछ अधिक पी लेते और इसी तरह देवता लोग भी। कभी कभी इन्द्र नशे में चूर हो जाते थे। कुछ ऋचाएँ ऐसी भी मिलती हैं कि इन्द्र एक बार यह सोमरस इतना अधिक पी गये कि असम्बद्ध बातें करने लगे। वैसा ही वरुण के सम्बन्ध में है। ये भी एक महाशक्तिसम्पन्न देवता हैं और उसी प्रकार अपने भक्तों की रक्षा करते हैं तथा वे भक्त सोमरस अर्पण कर उनका जयगान गाते हैं। रण-देवता आदि की भी यही बात है। पर अन्य पौराणिक कथाओं की अपेक्षा संहिता की कथाओं में वैशिष्ट्य लानेवाली एक मुख्य बात यह है कि इन देवताओं में से प्रत्येक के साथ अनन्तत्व की कल्पना सम्बद्ध है। यह अनन्त केवल भावरूप है और कभी कभी वह 'आदित्य' नाम से वर्णित किया गया है। अन्य स्थानों में वह दूसरे देवताओं से सम्बद्ध कर दिया गया है। उदाहरणार्थ, इन्द्र को लीजिये। किसी किसी सूक्त में आप देखेंगे कि इन्द्र देहधारी हैं, अत्यन्त शक्तिशाली हैं, कभी कभी स्वर्णकवच पहनते हैं और नीचे उतरकर अपने भक्तों के साथ रहते हैं, भोजनादि करते हैं, असुरों से और सर्पों से लड़ते हैं, इत्यादि। फिर और एक दूसरे सूक्त में इन्द्र को बहुत उच्च पद दिया गया है; वे सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सर्वान्तर्यामी आदि गुणों से मण्डित किये गये हैं। ऐसा ही वरुण के सम्बन्ध में है। ये वरुण वायुदेवता हैं और जल पर इनका अधिकार है, जैसे

पहले इन्द्र का था; अकस्मात् हम देखते हैं कि ये उच्च पद पर उठा दिये गये हैं और इन्हें भी सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। वरुणदेव के इस सर्वोच्च स्वरूप को अभिव्यक्त करनेवाला एक सूक्त मैं पढ़ूंगा, जिससे आप मेरा अभिप्राय समझ जायेंगे। इस सूक्त का अनुवाद अँगरेजी कविता में भी हो गया है। वह सूक्त यह है:—

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति।
य स्तायन्मन्यते चरनन्त्सर्वं देवा इदं विदुः॥
यस्तिष्ठति चरति यश्‍च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतंकम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः॥
उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरेअन्ता।
उतौ समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः॥
उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् *॥

अर्थात्, "ये शक्तिसम्पन्न प्रभु स्वर्ग से हमारे कार्यों को अपनी आँखों के सामने होते हुए-से देखते हैं। देवतागण मनुष्यों के कार्यों को जानते हैं, यद्यपि मनुष्य चाहते हैं कि अपने कार्य छिपाकर करें। कोई खड़ा हो, चलता हो, चुपके से एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता हो, या अपनी निभृत गुफा में बैठा हो—उसके सभी हाल-चाल का पता देवतागण पा जाते हैं। जब कभी दो मनुष्य गुप्त सलाह कहते हैं और सोचते हैं कि हम अकेले हैं, तो तीसरे राजा वरुण भी वहाँ रहा करते हैं और उनके सब मनसूबों को जान जाते हैं। यह वसुधा उनकी है, यह विस्तीर्ण अनन्त आकाश भी उन्हीं का है, दोनों महासागर उन्हीं में स्थित

---

* अथर्ववेद, ४।१६

हैं, तथापि वे तो उस छोटे से जलाशय में ही वास करते हैं। यदि कोई गगनमण्डल के उस पार भी उड़कर जाना चाहे, तो वहाँ भी वह राजा वरुण के पंजे से नहीं बच सकता। उनके गुप्तचर आकाश से उतरकर संसार में सब ओर चुपके से विचरते रहते हैं और उनके सहस्र नेत्र, जो बहुत छानबीन करते हुए बारीकी से देखते रहते हैं, पृथ्वी की सुदूर सीमा तक अपनी निगाह फैलाये रहते हैं।"

इसी प्रकार हम अन्य देवताओं के विषय में भी अनेक उदाहरण दे सकते हैं। वे सभी एक के बाद एक उसी क्रम से आते हैं—पहले वे देवताओं के रूप में दिखते हैं और उसके बाद उन्हें ऊपर उठाकर उनके विषय में यह धारणा उपस्थित की जाती है कि वे ऐसे 'पुरुष' हैं, जिनमें सारा ब्रह्माण्ड अवस्थित है, जो प्रत्येक हृदय को देखनेवाले साक्षी हैं और विश्व के शासनकर्ता हैं। वरुणदेव के सम्बन्ध में एक दूसरा भाव भी है और उस भाव का केवल अंकुर ही फूट पाया था कि आर्य-मन ने उसे वहीं कुचल डाला; वह है भय का भाव। एक अन्य स्थान पर हम पढ़ते हैं कि उन्हें अपने किये हुए पाप के कारण भय लगता है और वे वरुण से क्षमा माँगते हैं। भारत में भय और पाप इन दो भावों को बढ़ने नहीं दिया गया; इसका कारण आप बाद में समझ जायेंगे, तथापि इनके अंकुर तो फूटने को ही थे। इसी को, जैसा कि आप सब जानते हैं, एकेश्वरवाद कहते हैं। इस एकेश्वरवाद का उदय भारत में अति प्राचीन काल में ही हुआ था। सम्पूर्ण संहिताओं में, उनके प्रथम व प्राचीनतम भाग में इस एकेश्वरवाद सम्बन्धी विचार का ही प्राधान्य है। पर हम देखेंगे कि आर्यों के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं जँचा।

उन्होंने उसे बिलकुल ही एक आदिम प्रकार की धारणा समझ मानो एक ओर फेंक दिया और आगे बढ़ गये। हम हिन्दुओं की ऐसी ही धारणा है। अवश्य जब कोई हिन्दू पाश्चिमात्य पण्डितों द्वारा लिखित वेदसम्बन्धी पुस्तकों और टीका-टिप्पणियों में यह पढ़ता है कि हमारे ग्रन्थकर्ताओं के लेखों में केवल यही उपर्युक्त शिक्षा भरी है, तब तो उसे हँसी आये विना नहीं रहती। जिन्होंने बचपन से ही मानो अपनी माँ के दूध के साथ इस विचार का पान किया है कि एक सगुण ईश्वर का भाव ईश्वर-सम्बन्धी उच्चतम आदर्श है, वे स्वभावतः ही भारत के इन प्राचीन मनीषियों के समान विचार करने का साहस नहीं कर सकते, जब कि वे देखते हैं कि संहिता के बाद ही एकेश्वरवाद की कल्पना, जिससे संहिता भरी हुई है, आर्यों द्वारा निरर्थक पायी गयी, तत्त्ववेत्ताओं और दार्शनिकों के लिए अनुपयुक्त समझी गयी, और इसलिए वे आर्य अधिक तात्त्विक एवं इन्द्रियातीत सत्य की खोज में विशेष प्रयत्नशील हुए। आर्यों की दृष्टि में एकेश्वरवाद अत्यन्त मानुषिक प्रतीत हुआ, यद्यपि उन्होंने उसके वर्णन में "सम्पूर्ण विश्व उसी में भ्रमण करता है", "तू ही सभी के अन्तःकरणों का नियामक है" इत्यादि वाक्यों का प्रयोग किया। हिन्दू लोग साहसी थे और उन्हें इस बात का श्रेय देना चाहिए कि वे अपने सभी विचारों को बड़े साहस के साथ सोचते थे—इतने साहस के साथ कि उनके विचार की एक चिनगारी मात्र से पश्चिम के तथाकथित साहसी तत्त्ववेत्ता डर जाते हैं! इन आर्य-मनीषियों के सम्बन्ध में प्रोफेसर मैक्समूलर ने यह ठीक ही कहा है कि ये लोग इतनी अधिक ऊँचाई तक चढ़े, जहाँ केवल उनके ही फेफड़े साँस ले सकते थे, दूसरों के

फेफड़े तो इतनी ऊँचाई में फट गये होते! जहाँ भी बुद्धि ले गयी, इन धीर पुरुषों ने उसका अनुरागपूर्वक अनुसरण किया—उसके लिए कोई त्याग उठा न रखा। सम्भव था कि इससे उनके हृदय के चिर-पोषित अन्धविश्वास चूर-चूर हो जाते, पर उन्होंने इसकी परवाह न की; यह भी परवाह न की कि समाज उनके सम्बन्ध में क्या सोचेगा, क्या कहेगा! वे तो साहसी थे। उन्होंने जिसे ठीक और सत्य समझा, उसी की चर्चा की और प्रचार किया।

प्राचीन वैदिक ऋषियों के सम्बन्ध में इस प्रकार विचार करने के पूर्व हम यहाँ पर वेदों में से एक-दो विशिष्ट बातों का उल्लेख करेंगे। हम देखते हैं कि वहाँ एक के बाद दूसरे देवता लिये गये हैं, उन्हें ऊपर उठाया गया है, उनकी महिमा और प्रभुता की क्रमशः वृद्धि की गयी है और अन्त में उनमें से प्रत्येक को विश्व के उस अनन्त सगुण ईश्वर की पदवी पर बिठा दिया गया है। यह एक विशिष्ट बात है, जिसका स्पष्टीकरण होना आवश्यक है। प्रोफेसर मैक्समूलर इसके लिए एक नये नाम की रचना करते हैं; वे कहते हैं कि यह हिन्दुओं की विशेषता है; वे इसे 'हेनोथिजम्'* नाम से पुकारते हैं। इसे समझने के लिए हमें दूर जाने की आवश्यकता नहीं। इसकी यथार्थ मीमांसा तो उन वेदों में ही है। वेदों में जहाँ पर देवताओं का वर्णन है, उन्हें ऊपर उठाया गया है, उनकी महिमा और प्रभुता की क्रमशः वृद्धि की गयी है, बस उसके कुछ आगे ही हमें इसका समाधान भी मिलता है। प्रश्न यह उठता है कि हिन्दुओं की पौराणिक कथाएँ अन्य

---

* Henotheism—अनेक देवताओं में से एक को सर्वप्रधान मानकर उसकी पूजा करना।

जातियों की ऐसी कथाओं की अपेक्षा इतनी वैशिष्टयपूर्ण तथा भिन्न क्यों हैं ? बाबिल या यूनान देश की पौराणिक कथाओं में हम देखते हैं कि एक देवता आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है और एक उच्च अवस्था में पहुँचकर वहीं जम जाता है तथा दूसरे देवता लुप्त हो जाते हैं। 'मोलोकों' में 'जिहोवा' सब से श्रेष्ठ बन जाता है और अन्य सब 'मोलोक' भुला दिये जाते हैं, सदा के लिए लुप्त हो जाते हैं; 'जिहोवा' देवाधिदेव के आसन पर विराजमान हो जाता है। इसी तरह यूनानी देवताओं में 'जिउस' नामक देवता प्राधान्य लाभ करता है और उत्तरोत्तर अधिकाधिक महिमान्वित होता हुआ अन्त में विश्वविधाता के सिंहासन पर आरूढ़ हो जाता है; अन्य सभी देवता क्षीणप्रभ होकर साधारण देवदूतों की श्रेणी में समाविष्ट हो जाते हैं। इस घटना की पुनरावृत्ति उत्तरकालीन इतिहास में भी पायी जाती है। बौद्ध और जैन लोगों ने अपने एक धर्म-प्रचारक को ईश्वर का स्थान दे दिया और अन्य देवताओं को उस 'बुद्ध' या 'जिन' के अधीन माना। यही प्रणाली समस्त संसार के धर्मेतिहास में प्रचलित है, परन्तु वेदों में हम मानो इसका अपवाद पाते हैं। वहाँ किसी एक देवता की स्तुति की जाती है और उस समय तक यह कहा जाता है कि अन्य सब देवता उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं; और जिस देवता के वरुण द्वारा बढ़ाये जाने की बात कही गयी है, वह स्वयं ही दूसरे मण्डल में सर्वोच्च पद पर पहुँचा दिया जाता है। बारी-बारी से ये देवता सगुण-ईश्वर के पद पर स्थापित होते हैं। पर इसकी मीमांसा तो उसी ग्रन्थ में पायी जाती है और वह सचमुच अद्भुतरम्य है। वह भारत में समस्त उत्तरकालीन विचारों का विषय रही है और वही सारे संसार के

धार्मिक क्षेत्र में आध्यात्मिक विचार-धारा का विषय रहेगी; वह है "एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।"—सत्ता एक है, ऋषिगण उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं। इन सभी स्तोत्रों में, जहाँ इन विभिन्न देवताओं की महिमा गायी गयी है, जिस परम पुरुष के दर्शन होते हैं, वह एक ही है; अन्तर केवल दर्शन करनेवाले में है। स्तोत्रगायक, ऋषि और कवि उसी एक परम पुरुष का गुणगान विभिन्न वाणियों और भिन्न-भिन्न छन्दों में करते हैं। "एकं सद्विप्रा बहुधा वन्दति"—सत्ता एक ही है, ऋषियों ने उसके भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। इस एक मन्त्र पर से बहुत से महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले हैं। सम्भवतः आप लोगों में से कुछ को यह सुनकर आश्चर्य होता होगा कि भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ विधर्मियों पर अत्याचार कभी नहीं हुआ और जहाँ किसी मनुष्य को उसके धार्मिक विश्वास के कारण तंग नहीं किया गया। आस्तिक, नास्तिक, अद्वैतवादी, द्वैतवादी, एकेश्वरवादी सभी वहाँ वास करते हैं और एक साथ बिना द्वेषभाव के रहते हैं। जड़वादी चार्वाकों ने ब्राह्मणों के मन्दिरों की सीढ़ियों पर से देवताओं के विरुद्ध, यहाँ तक कि स्वयं परमेश्वर के विरुद्ध भी प्रचार किया; वे सारे देश-भर में यह उपदेश देते फिरे कि ईश्वर को मानना निरा अन्धविश्वास है; देव-देवता, वेद और धर्म आदि की बातें निरी कपोलकल्पनाएँ हैं, जिन्हें पुरोहितों ने अपने स्वार्थ और लाभ के लिए गढ़ा है। पर ऐसे प्रचारकों पर भी भारत में अत्याचार नहीं किया गया। बुद्धदेव जहाँ कहीं गये, उन्होंने हिन्दुओं द्वारा पवित्र मानी जानेवाली सभी पुरातन बातों को मिट्टी में मिला देने का प्रयत्न किया, पर उनके विरुद्ध एक आवाज तक न उठायी गयी और उन्होंने परिपक्व वृद्धावस्था में

अपने शरीर का त्याग किया ! ऐसा ही जैनियों के सम्बन्ध में हुआ। वे तो ईश्वरसम्बन्धी धारणा की हँसी उड़ाते थे। उनका कहना था, "ईश्वर हो ही कैसे सकता है ? ईश्वर की कल्पना तो केवल अन्धविश्वास है।" इसी प्रकार अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। जब तक इस्लाम धर्म की लहर भारत में नहीं आयी थी, तब तक वहाँ के लोग यह जानते तक न थे कि धार्मिक अत्याचार किसे कहते हैं। जब विधर्मी विदेशियों द्वारा हिन्दुओं पर यह अत्याचार हुआ, तभी उन्होंने इसे प्रथम बार अनुभव किया। आज भी यह बात सर्वविदित है कि ईसाइयों के गिरजा-घर बनाने में हिन्दुओं ने कितनी सहायता दी है और उन्हें सहायता देने के लिए किस तरह सदैव तत्पर रहते हैं। वहाँ धर्म के नाम पर रक्तपात कभी नहीं किया गया। यहाँ तक कि वेदों में विश्वास न करनेवाले वे धर्म भी, जो भारत की भूमि में उपजे और फले-फूले हैं, उसी प्रकार प्रभावित हुए हैं। उदाहरण के लिए बौद्ध धर्म को लिया जा सकता है। बौद्ध धर्म कुछ बातों में एक महान् धर्म है, पर बौद्ध धर्म और वेदान्त को समान समझना भूल है। उन दोनों का अन्तर उसी प्रकार स्पष्ट है, जैसे कि ईसाई धर्म और मुक्तिफौज (Salvation Army) का। बौद्ध धर्म में महान् और अच्छी बातें हैं, पर ये बातें ऐसे मनुष्यों के हाथ पड़ गयीं, जो उन्हें सुरक्षित रखने में असमर्थ थे। तत्त्वज्ञानियों के दिये हुए रत्न सर्वसाधारण जनसमूह के हाथों में आ पड़े और जनता ने उनके विचारों को ग्रहण किया। उनमें काफी उत्साह था, उनके पास कुछ अपूर्व भाव थे—महान् और लोकहितकारी भाव; पर तो भी ऐसी बातों को सुरक्षित रखने के लिए कुछ दूसरी वस्तु की आवश्यकता हुआ करती है—वह है

बुद्धि और विचार। जहाँ कहीं तुम देखोगे कि भूत-दया के उच्च आदर्श जनसाधारण के हाथों पड़े हैं, वहाँ उसका प्रथम परिणाम अध:पतन ही हुआ है। वास्तव में विद्या और बुद्धि इन बातों को सुरक्षित रखती है। अस्तु।

संसार के सामने प्रचारक-धर्म के रूप में सर्वप्रथम बौद्ध धर्म ही आया और उस युग की सारी सभ्य जातियों में उसका प्रचार किया गया, पर उस धर्म के नाम पर कहीं एक बूँद भी रक्त नहीं गिराया गया। हम इतिहास में देखते हैं कि किस प्रकार चीन देश में बौद्ध प्रचारकों पर अत्याचार किया गया, किस प्रकार सहस्रों बौद्ध प्रचारक लगातार दो-तीन सम्राटों द्वारा मौत के घाट उतार दिये गये। पर उसके बाद अन्त में बौद्धों का भाग्य चमका। एक सम्राट् ने उन अत्याचारियों से बदला लेना चाहा, पर बौद्ध प्रचारकों ने इनकार कर दिया। इस सब के लिए हम इस निम्नोक्त मन्त्र के ऋणी हैं, इसलिए मैं चाहता हूँ कि आप इस मन्त्र को याद रखें—"जिसे लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, कहते हैं, वह सत्ता केवल एक ही है; ऋषि लोग उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं।"*

आधुनिक विद्वान् चाहे जो कहें, पर यह कोई नहीं जानता कि यह मन्त्र कब लिखा गया था—कौन जाने वह ८००० वर्ष पूर्व लिखा गया हो, या ९००० वर्ष पूर्व। इनमें से कोई भी धार्मिक विचार आधुनिक नहीं है, पर तो भी ये आज भी उतने ही नवीन हैं, जितना कि वे लिखने के समय थे। यही क्यों, आज तो वे

---

* इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
—ऋग्वेद, १।१६४।४६

अधिक नवीन हैं; क्योंकि उस प्राचीन युग में मनुष्य उतना सभ्य नहीं था, जितना कि हम आज उसे समझते हैं ! तब उसने यह नहीं सीखा था कि वह इसलिए अपने भाई का गला काट ले कि वह उससे कुछ अलग विचार रखता है; उसने संसार को रक्त से नहीं नहलाया था, वह अपने भाई के लिए राक्षस नहीं बना था। तब वह मानवता के नाम पर सारी मानवजाति का वध नहीं करता था। इसीलिए "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" ये शब्द आज हमारे सामने अधिक नवीन रूप से आते हैं, महान् प्रेरणा और संजीवनी लेकर आते हैं, उससे अधिक तर-व-ताजा होकर आते हैं जितना कि वे लिखने के समय थे। हमें आज भी यह सीखना शेष है कि सभी धर्म का ईश्वर एक ही है, चाहे वे धर्म हिन्दू, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई आदि भिन्न-भिन्न नामवाले क्यों न हों; और जो उनमें से किसी की भी निन्दा करता है, वह अपने ही ईश्वर की निन्दा करता है।

यही वह समाधान था, जिस पर वे पहुँचे थे। पर जैसा मैंने कहा, हिन्दू-मन को इस प्राचीन एकेश्वरवाद की धारणा से सन्तोष नहीं हुआ। वह धारणा अधिक दूर तक नहीं जा सकी, उससे दृश्य-जगत् की घटनाओं का समाधान नहीं हुआ। जगत् का एक शासनकर्ता ईश्वर मान लेने से जगत् का स्वरूप ठीक-ठीक समझ में नहीं आता—कभी नहीं आता। विश्व का एक विधाता मान लेने से विश्व-व्यापार का समाधान नहीं होता और यदि वह विधाता विश्व के बाहर हो, तब तो बात और भी जटिल हो जाती है। ऐसा विधाता भले ही नैतिक पथ-प्रदर्शक हो, सर्वशक्तिमान् हो, पर वह इस विश्व-पहेली का हल नहीं हो सकता। अब हम विश्व के सम्बन्ध में उस प्रथम प्रश्न को उठते

हुए देखते हैं, जो उत्तरोत्तर गम्भीर होता जाता है और पूछता है—"यह विश्व कहाँ से आया ? कैसे आया ? यह कैसे स्थित है ?" इस प्रश्न से सम्बन्धित हमें कई सूक्त मिलते हैं। इस प्रश्न को सुसम्बद्ध रूप देने के लिए कठिन प्रयास हो रहा है और इसका वर्णन निम्नोक्त सूक्त में जिस प्रकार किया गया है, उससे अधिक काव्यमय और अद्भुत वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा—

" नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्
अम्भः किमासीत् गहनं गभीरम् ॥
न मृत्युरासीत् अमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।"†

—"उस समय न सत् था, न असत्, न वायु थी, न आकाश, न अन्य कुछ ही। यह सब किससे ढका था ? सब किसके आधार पर स्थित था ? तब मृत्यु नहीं थी, न अमरत्व ही, और न रात्रि और दिन का परिवर्तन ही था।" अनुवाद करने से कविता का अधिकांश सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। "न मृत्युरासीत् अमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः"—देखिये, संस्कृत शब्दों की ध्वनि ही कैसी संगीतमयी है ! "आनीदवातं स्वधया तदेकं, तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ।"* "वह सत्ता, वह प्राण ही मानो आवरण के रूप में ईश्वर को ढके हुए था और उसका चलायमान होना प्रारम्भ नहीं हुआ था।"

इस एक भाव को स्मरण रखना ठीक होगा कि वह सत्ता

† नासदीय सूक्त।

* नासदीय सूक्त।

क्रियारहित होकर स्थित थी; क्योंकि आगे चलकर हम देखेंगे कि सृष्टिसर्ग के सम्बन्ध में इस भाव का किस प्रकार विकास हुआ है। हम यह भी देखेंगे कि हिन्दू-तत्त्वज्ञान और दर्शनशास्त्र के अनुसार यह सम्पूर्ण विश्व किस प्रकार मानो क्रियाशील स्पन्दनों की समष्टि है और कई समय ऐसे हुआ करते हैं जब यह समस्त क्रिया शान्त हो जाती है और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बनकर कुछ काल तक उसी अवस्था में रहती है। इसी अवस्था का वर्णन इस सूक्त में किया गया है। वह सत्ता अक्रिय थी, अचल थी, स्पन्दनरहित थी और जब सृष्टि का आरम्भ हुआ, तब वह स्पन्दित होने लगी और उसी शान्त, आत्मविधृत, अद्वितीय सत्ता से यह सृष्टि बाहर निकल आयी।

"तम आसीत् तमस गूढ़मग्रे"—पहले अन्धकार, अन्धकार में छिपा हुआ था। इस वर्णन की महिमा आप लोगों में से वे ही समझ सकेंगे, जो भारत या किसी अन्य उष्ण देश को गये हैं और वर्षा ऋतु का आरम्भ देखा है। इस दृश्य के वर्णन का प्रयत्न तीन कवियों ने जिस प्रकार किया है, वह मुझे याद आता है। मिल्टन कहते हैं—"प्रकाश नहीं था, अन्धकार ही दिखायी देता था।" कालिदास कहते हैं—"ऐसा अन्धकार जिसका सुई से भेदन किया जा सकता है।" पर "अन्धकार में छिपा हुआ अन्धकार"—इस वैदिक वर्णन को कोई नहीं पाता। प्रत्येक वस्तु सूख रही है, झुलस रही है। सारी सृष्टि मानो जल रही है और कई दिनों से ऐसा हो रहा है। इतने में एक छोटासा बादल का टुकड़ा दिखायी देता है और आध घण्टे के अन्दर ही वह सारी पृथ्वी को छा लेता है—बादल पर बादल छा जाते हैं और फिर प्रलयकारी घनघोर वर्षा होने लगती है।

सृष्टि का कारण 'इच्छा' बतायी गयी। जो सब से पहले अस्तित्व में था, वही 'इच्छा' में परिणत हो गया और वह इच्छा कामना के रूप में प्रकट होने लगी। यह भी हमें स्मरण रखना चाहिए; क्योंकि हम देखते हैं कि यह कामना ही सारी सृष्टि का कारण बतलायी गयी है। यह 'इच्छा' ही बौद्ध और वेदान्त दर्शनों में अत्यन्त महत्व की कल्पना रही है और यही आगे चलकर जर्मन-दर्शनशास्त्र में प्रविष्ट हो, शोपनहावर के दर्शन की भित्ति-स्वरूप बन गयी है। हम सर्वप्रथम यहाँ उसके विषय में सुनते हैं—

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।।" *

—"अब पहले इच्छा की उत्पत्ति हुई, जो मन का अव्यक्त बीज है। ऋषियों ने अपने हृदय में प्रज्ञा द्वारा खोजते-खोजते सत् और असत् के बीच के सम्बन्ध का पता लगाया।"

यह बड़ा विचित्र वर्णन है; ऋषि अन्त में कहते हैं, "सो अंग वेद यदि वा न वेद"—कदाचित् वह (ईश्वर) भी इसे नहीं जानता! कवित्व की विशेषताओं को अलग रखते हुए, हम इस सूक्त में यह पाते हैं कि जगत्-सम्बन्धी प्रश्न एक निश्चित रूप प्राप्त कर चुका है और यह भी प्रतीत होता है कि ऋषियों के मन अवश्य एक ऐसी उन्नत अवस्था में पहुँच गये हैं, जहाँ किसी प्रकार के साधारण उत्तरों से उनका समाधान नहीं हो सकता। हम यह देखते हैं कि सृष्टिवाह्य 'जगन्नियन्ता' की कल्पना से भी उन्हें सन्तोष न हुआ। कई अन्य सूक्तों में भी इस सृष्टि की उत्पत्ति के

* नासदीय सूक्त।

सम्बन्ध में यही भाव पाया जाता है। और जैसा हम पहले देख चुके हैं कि जब वे विश्व के एक नियन्ता, एक सगुण ईश्वर की खोज में लगे हुए थे, तब वे एक के बाद दूसरे देवता को लेकर उसे उस उच्चतम पद तक उठा देते थे, उसी तरह अब हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न स्तोत्रों में एक या दूसरे भाव को लिया गया है, उसका अनन्त विस्तार किया गया है और उसे विश्व की सभी वस्तुओं की उत्पत्ति का कारण बताया गया है। एक विशिष्ट भाव को आधार के रूप में लिया गया है, जिसमें सब कुछ आश्रित और स्थित है, और वही आधार यह सब बन गया है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न भावों के सम्बन्ध में भी किया गया है। उन्होंने इस प्रणाली का प्रयोग 'प्राण'-रूपी जीवन-तत्त्व पर किया। उन्होंने प्राण-तत्त्व के इस भाव का इतना विकास किया कि अन्त में वह विश्वव्यापी और अनन्त बन गया। यह प्राण-तत्त्व ही सब का धारण करता है। वह केवल मानव-शरीर की ही नहीं, वरन् सूर्य और चन्द्रमा की भी ज्योति है; वही प्रत्येक वस्तु को चलानेवाली शक्ति है, वही विश्व-संचालिनी शक्ति है। इनमें से कई वर्णन तो बड़े ही सुन्दर, बड़े ही काव्यमय हैं। उनकी चित्रांकन की शैली बड़ी ही रम्य और अपूर्व काव्यमयी है। उदाहरणार्थ देखिये, "यत्राधि सूर उदितो विभाति"—'जिस प्रजापतिरूपी आधार से उदय को प्राप्त हो सूर्य प्राची में लाली बिखेरता हुआ प्रकाशमान होता है।' अस्तु। तत्पश्चात् उस 'इच्छा' का, जो हमने अभी ही पढ़ा, सृष्टि के अव्यक्त बीज के रूप से उठी, यहाँ तक विस्तार किया गया कि अन्त में उसने विश्वेश्वर का स्थान प्राप्त कर लिया। पर इन विचारों में से कोई भी उन्हें समाधानकारक नहीं प्रतीत हुआ।

यहाँ पर आदि-कारण की कल्पना अत्यन्त उदात्त रूप धारण कर लेती है और अन्त में वह 'आदि-पुरुष' की कल्पना में परिणत हो जाती है—

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

* * *

यस्येमे हिमवन्तो माहित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।" ‡

—"सृजन के पूर्व उसी एक का अस्तित्व था। वही सब पदार्थों का एकमात्र अधीश्वर है, वही इस विश्व का आधार है। वही जो जीव-सृष्टि का जनक है, समस्त शक्ति का मूल है, समस्त देव-देवता जिसकी पूजा करते हैं, जीवन जिसकी छाया है, मृत्यु जिसकी छाया है, उसको छोड़ और किसकी पूजा करें ? हिमगिरि के तुषारमण्डित उत्तुंग शिखर जिसकी महिमा का उद्गान करते हैं, समुद्र अपने अगाध जलसम्भार के द्वारा जिसकी महिमा की घोषणा करते हैं . . .," इत्यादि। पर, जैसा मैंने अभी ही कहा, इस विचार से उनका समाधान न हो सका।

अन्ततोगत्वा हम एक बड़ी ही विचित्र अवस्था पाते हैं। आर्य-ऋषियों का मन अभी तक बाह्य प्रकृति में ही इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ रहा था। सूर्य, चन्द्रमा, तारागण आदि जो-जो वस्तुएँ उन्हें दिखायी दीं, उन सब में उन्होंने इसका समाधान ढूँढ़ा और इस प्रकार से जो कुछ उन्हें मिल सकता था, उस सब की प्राप्ति की। सम्पूर्ण प्रकृति अधिक-से-अधिक उन्हें केवल इतनी ही शिक्षा

‡ ऋग्वेद, १०।१२१

दे सकी कि इस विश्व का नियन्ता एक व्यक्तिविशेष है। इससे अधिक वे बाह्य प्रकृति से और कुछ न सीख सके। संक्षेप में बाह्य विश्व से हमें केवल एक शिल्पी की कल्पना ही प्राप्त हो सकती है, जिसे 'दैवी योजना के अनुसार निर्माण' का सिद्धान्त (Design theory) कहते हैं। हम जानते ही हैं कि यह सिद्धान्त कुछ विशेष तर्कसंगत नहीं है। उसमें कुछ अबोधता का आभास है; तथापि बाह्य जगत् पर से तो हम परमेश्वर के सम्बन्ध में बस इतना ही जान सकते हैं कि इस जगत् का बनानेवाला कोई होना चाहिए। किन्तु सृष्टि-विषयक समस्या इससे हल नहीं होती। इस कल्पना में कि इस जगत् के उपादान ईश्वर के सामने थे तथा सृजन के लिए उस ईश्वर को इन उपादानों की आवश्यकता थी, सब से अधिक आपत्तिजनक बात तो यह है कि ईश्वर इस उपादान-कारण से मर्यादित हो जाता है, क्योंकि इस उपादान की मर्यादा के भीतर ही वह कार्य कर सकता है। कारीगर सामग्रियों के बिना मकान नहीं बना सकता; अतः वह उस सामग्री की मर्यादा से मर्यादित है। जिस वस्तु के बनाने योग्य सामग्री उसके पास है, वही तो वह बना सकता है। अतः 'दैवी योजना के अनुसार निर्माण' के सिद्धान्त से जो ईश्वर हमें प्राप्त होता है, वह तो अधिक-से-अधिक एक कारीगर मात्र है, इस जगत् का एक समर्याद शिल्पी है। वह उपादान-परतन्त्र है, उपादानों से मर्यादित है। तब वह स्वतन्त्र कैसे हो सकता है? आर्य-ऋषि यह सत्य पहले ही जान चुके थे। बहुतेरे अन्य लोग तो वहीं रुक गये होते। अन्य देशों में यही हुआ; मानव-मन तो वहीं पर पहुँचकर न रुक सका; विचारशील और मेधावी मन उससे आगे जाना चाहते थे; पर जो विचारशक्ति में उनसे पिछड़े हुए

लोग थे, उन्होंने उन्हें पकड़ रखा और आगे न बढ़ने दिया। किन्तु सौभाग्यवश ये हिन्दू ऋषिगण ऐसे नहीं थे, जिनकी प्रगति कोई रोक सके—वे तो समस्या को हल करना ही चाहते थे। इसलिए अब हम देखते हैं कि वे बाह्य जगत् को छोड़ अन्तर्जगत् की ओर मुड़ते हैं। सब से पहले जो बात उनके ध्यान में आयी, वह यह थी कि बाह्य जगत् का अनुभव तथा धर्मविषयक कोई भी प्रतीति हमें नेत्र अथवा अन्य इन्द्रियों द्वारा नहीं होती। अतः पहली समस्या जो उठी, वह थी उस कमी की खोज। और हम देखेंगे, वह कमी भौतिक और नैतिक दोनों थी। एक ऋषि कहते हैं कि तुम इस विश्व का कारण नहीं जानते; तुम्हारे और मेरे बीच में बड़ा भारी अन्तर उत्पन्न हो गया है; ऐसा क्यों? इसलिए कि तुम इन्द्रियपरक बातों की चर्चा करते रहते हो और इन्द्रिय-विषयों तथा केवल धार्मिक विधि-अनुष्ठानों से सन्तोष मान लेते हो, जब कि मैंने उस द्वन्द्वातीत पुरुष को जान लिया है।

मैं आपके सामने आध्यात्मिक विचारों की जिस प्रगति का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न कर रहा हूँ, उसके साथ-साथ मैं उस प्रगति के एक और अंग की ओर कुछ संकेत मात्र कर सकता हूँ; पर उसका हमारे विषय से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इसलिए मैं उस पर अधिक कहना आवश्यक नहीं समझता। वह है—कर्मकाण्ड की प्रगति। जहाँ आध्यात्मिक विचार समानान्तर श्रेणी के न्याय से प्रगत हुए, वहाँ कर्मकाण्ड के विधि-विधान-सम्बन्धी विचार समगुणितान्तर श्रेणी के न्याय से बढ़ते गये। पुराने अन्धविश्वास इस समय तक बढ़कर विधि-विधानों की एक प्रचण्ड राशि में परिणत हो गये थे और यह राशि उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी; यहाँ तक कि अन्त में उसने हिन्दू-जीवन को कुचल-सा डाला।

वह आज भी विद्यमान है और हमें अच्छी तरह से जकड़े हुई है तथा हमारे जीवन के प्रत्येक अंग में ओत-प्रोत होकर उसने हमें जन्म से ही गुलाम बना रखा है। फिर भी, हम साथ-ही-साथ, अत्यन्त प्राचीन काल से ही, इस कर्मकाण्ड की प्रगति के विरोध में आवाजें उठती पाते हैं। वहाँ इस कर्मकाण्ड के विरोध में एक बड़ी भारी आपत्ति यह उठायी गयी है कि विधि-अनुष्ठानों में रुचि, विशिष्ट समय में विशिष्ट वस्त्र का परिधान, विशिष्ट प्रकार से भोजन करने की रीति तथा इसी प्रकार के धार्मिक स्वाँग और आडम्बर धर्म के केवल बाहरी रूप हैं; क्योंकि तुम इन्द्रियों में ही सन्तोष मान लेते हो और उनके परे जाना नहीं चाहते। हमारे तथा प्रत्येक मनुष्य के लिए, यही तो भारी कठिनाई है! जब हम आध्यात्मिक विषयों की चर्चा सुनते हैं, तब हम अधिक-से-अधिक क्या करते हैं? इन्द्रियों के वृत्त में ही हमारा आदर्श सीमित रहता है और उसी के मानदण्ड से हम उन सब की माप-जोख करते हैं। एक व्यक्ति वेदान्त, ईश्वर और इन्द्रियातीत विषयों के सम्बन्ध में श्रवण करता है और कई दिनों तक सुनने के पश्चात् पूछता यह है कि आखिर इन सब से धन कितना मिलेगा, इन्द्रिय-सुख कितना मिलेगा? कारण, स्वाभाविक ही उसका सुख-भोग केवल इन्द्रियों में रहता है। पर हमारे ऋषि तो यह कहते हैं कि इन्द्रियजन्य सुख में ही तृप्त रहना उन कारणों में से एक है, जिन्होंने सत्य और हमारे बीच एक परदा-सा डाल दिया है। कर्मकाण्ड में रुचि, इन्द्रियों में तृप्ति तथा विविध मत-मतान्तरों की कल्पनाओं ने हमारे और सत्य के बीच एक आवरण डाल रखा है। हिन्दुओं के आध्यात्मिक विचारों की प्रगति में यह दूसरी महान् घटना है। हमें इस आदर्श का पता

अन्त तक लगाना होगा और देखना होगा कि आगे चलकर वेदान्त के अन्तर्गत माया के अद्भुत सिद्धान्त में उसका किस प्रकार विकास हुआ, किस तरह इस आवरण के सिद्धान्त ने वेदान्त की यथार्थ मीमांसा हमारे सामने रखी और किस प्रकार यह जाना गया कि सत्य तो चिरकाल से ही विद्यमान था, केवल इस आवरण ने ही उसे ढाँक रखा था।

इस तरह हम देखते हैं कि इन प्राचीन आर्य-मनीषियों की विचार-धारा ने नयी दिशा पकड़ी। वे जान गये कि उनके प्रश्न का यथोचित समाधान बाह्य जगत् में किसी भी खोज से नहीं मिल सकता। वे चाहे युगों तक बाहरी जगत् में ढूंढ़ते रहें, पर उनके प्रश्नों का उत्तर उससे नहीं मिल सकता। इसीलिए उन्होंने इस दूसरे उपाय का अवलम्बन किया। इससे उन्होंने यह सीखा कि विषय-भोग की इन इच्छाओं ने तथा विधि-अनुष्ठानों की इन कामनाओं एवं धर्म के बाह्य आडम्बरों ने उनके और सत्य के बीच में आवरण डाल दिया है तथा यह आवरण किसी कर्मानुष्ठान द्वारा हटाया नहीं जा सकता। तब तो उन्हें अपने ही मन की ओर लौटना पड़ा और अपने में सत्य की खोज करने के लिए अपने मन का ही विश्लेषण करना पड़ा। बहिर्जगत् अक्षम रहा, इसलिए वे अन्तर्जगत् की ओर झुके और तभी वेदान्त का सच्चा तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ। यहीं से वेदान्त के तत्त्वज्ञान का आरम्भ होता है। यही वेदान्त-दर्शन की नींव है। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं, वैसे-वैसे हम देखते हैं कि उसका सम्पूर्ण अनुसन्धान अन्तर्जगत् में है। बिलकुल प्रारम्भ से ही वे यह घोषित करते-से दीखते हैं कि सत्य को किसी धर्मविशेष में मत खोजो, वह तो यहीं, मनुष्य की आत्मा में ही है; यह आत्मा अत्यद्भुत है, समस्त

ज्ञान का भाण्डार है, सम्पूर्ण सत्ता की खानि है—इस चित्स्वरूप, सत्स्वरूप आत्मा में ही उस सत्य की खोज करो; जो यहाँ नहीं है, वह वहाँ (बाह्य जगत् में) हो ही नहीं सकता। क्रमशः उन्होंने यह ढूँढ़ निकाला कि जो कुछ बाहर है, वह भीतरी वस्तु का, बहुत हुआ तो, एक अस्पष्ट प्रतिबिम्ब मात्र है। हम देखेंगे कि किस प्रकार ईश्वरसम्बन्धी उस पुरानी कल्पना को लेकर उन्होंने उसका संस्कार किया—किस प्रकार वे विश्व के बाहर रहनेवाले विश्व के उस नियामक को मानो पकड़कर पहले विश्व के भीतर ले आये। वह ईश्वर जगत् के बाहर नहीं है, वरन् उसके अन्दर ही है; और वहाँ से वे उसे अपने हृदय में ले गये। वह यहाँ, मनुष्य के हृदय में विराजमान है—वह हमारी आत्मा की भी आत्मा है, हमारी वास्तविक सत्ता है।

वेदान्त-दर्शन के यथार्थ स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कई महत्त्वपूर्ण विचारों को समझना आवश्यक है। प्रथम तो यह कि वह उस अर्थ में दर्शनशास्त्र नहीं है, जिस अर्थ में हम 'कैंट' (Kant) और 'हेगेल' (Hegel) के दर्शनशास्त्र की चर्चा करते हैं। वह न तो एक ग्रन्थ है और न किसी एक व्यक्ति की कृति ही। विभिन्न कालों में लिखित ग्रन्थों की एक श्रेणी का नाम वेदान्त है। कभी कभी तो इनमें से एक में ही पचासों भिन्न-भिन्न विषय दिखायी देंगे। वे क्रमबद्ध रूप में संकलित भी नहीं हैं; मानो विचारों की टिप्पणियाँ ढाँक ली गयी हों। कहीं-कहीं तो बहुत से अन्य विषयों के बीच में हम कोई अद्भुत विचार पा जाते हैं। पर एक बात उल्लेखनीय है कि उपनिषदों के ये विचार सदा प्रगतिशील पाये जाते हैं। उस पुरानी अनगढ़ भाषा में, प्रत्येक ऋषि के मन की विचार-क्रियाएँ जैसी-जैसी होती गयीं,

उसी क्रम से उसी समय मानो चित्रित कर दी गयी हों। पहले तो ये विचार बहुत ही अनगढ़ रहते हैं और तत्पश्चात् क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होते हुए अन्त में वेदान्त के लक्ष्य को पहुँच जाते हैं और इस परिणति को दार्शनिक स्वरूप प्राप्त हो जाता है। प्रारम्भ में वह द्युतिमान् देवों की खोज रही, फिर विश्व के आदि-कारण की खोज की गयी और फिर उसी खोज को सब वस्तुओं के उस एकत्व-रूप शोध का अधिक तात्त्विक एवं स्पष्ट स्वरूप प्राप्त हो जाता है, जिसके 'ज्ञान से अन्य समस्त वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं'।*

---

* कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति।

—मुण्डकोपनिषद् १।१।३

हिन्दू धर्म और उसके सामान्य आधार

यह वही भूमि है, जो पवित्र आर्यावर्त में भी पवित्रतम मानी जाती है; यह वही ब्रह्मावर्त है, जिसका उल्लेख हमारे महर्षि मनु ने किया है। यह वही भूमि है, जहाँ से आत्मतत्त्व के ज्ञान के लिए आकांक्षा और अनुराग का वह प्रबल स्रोत प्रवाहित हुआ है, जो आनेवाले युगों में जैसा कि इतिहास दर्शाता है, संसार को अपनी बाढ़ से सराबोर करनेवाला है। यह वही भूमि है, जहाँ से उसकी वेगवती नद-नदियों के समान, चारों ओर विभिन्न आधारों में प्रबल धर्मानुराग विभिन्न रूप से उत्पन्न हुआ और धीरे-धीरे एक आधार में मिलित हो, शक्तिसम्पन्न होकर अन्त में संसार की चारों दिशाओं में फैल गया तथा वज्र-गम्भीर ध्वनि से अपनी महान् शक्ति की घोषणा समस्त जगत् में कर दी। यह वही वीरभूमि है, जिसे भारत पर चढ़ाई करनेवाले शत्रुओं का आघात सब से पहले सहना पड़ा था। आर्यावर्त में घुसनेवाली बाहरी बर्बर जातियों के प्रत्येक हमले का सामना इसी वीरभूमि को अपनी छाती खोलकर करना पड़ा था। यह वही भूमि है, जिसने इतनी आपत्तियाँ झेलने के बाद भी अब तक अपने गौरव और तेज को एकदम खोया नहीं है। यही वह भूमि है, जहाँ आगे चलकर दयालु नानक ने अपने अद्भुत विश्व-प्रेम का उपदेश दिया; जहाँ उन्होंने अपना विशाल हृदय खोलकर सारे संसार को—केवल हिन्दुओं को ही नहीं, वरन् मुसलमानों को भी—गले लगाने के लिए अपने हाथ फैलाये। यहीं पर हमारी जाति के महान् तेजस्वी अन्तिम गुरु, गुरु गोविन्दसिंह ने जन्म लिया

और धर्म की रक्षा के लिए अपना एवं अपने प्राणप्रिय कुटुम्बियों का रक्त बहा दिया; और जिनके लिए यह खून की नदी बहायी गयी उन लोगों ने भी जब उनका साथ छोड़ दिया, तब वे मर्मा-हत सिंह की भाँति चुपचाप दक्षिण देश में निर्जन-वास के लिए चले गये और अपने देशभाइयों के प्रति अधरों पर एक भी कटु वचन न लाकर, तनिक भी असन्तोष प्रकट न कर, शान्तभाव से इहलोक छोड़कर चले गये।

हे पंचनद देशवासी भाइयो! यहाँ, अपनी इस प्राचीन पवित्र भूमि में, तुम लोगों के सामने मैं आचार्य के रूप में नहीं खड़ा हुआ हूँ; कारण, तुम्हें शिक्षा देने योग्य ज्ञान मेरे पास बहुत ही थोड़ा है। मैं तो पूर्वी प्रान्त से अपने पश्चिमी भाइयों के पास इसीलिए आया हूँ कि उनके साथ हृदय खोलकर वार्तालाप करूँ, उन्हें अपने अनुभव बताऊँ और उनके अनुभव से स्वयं लाभ उठाऊँ। मैं यहाँ यह देखने नहीं आया कि हमारे बीच क्या-क्या मतभेद हैं, वरन् मैं तो यह खोजने आया हूँ कि हम लोगों की मिलन-भूमि कौनसी है। मैं यह जानने के लिए यहाँ आया हूँ कि वह कौनसा आधार है, जिस पर हम लोग आपस में सदा के लिए भाई-भाई का नाता बनाये रख सकते हैं; किस भित्ति पर प्रतिष्ठित होने से वह वाणी, जो अनन्त काल से हमें आशा का सन्देश सुनाती आ रही है, उत्तरोत्तर अधिक प्रबल होती रहेगी। मैं यहाँ आपके सामने कुछ रचनात्मक कार्यक्रम रखने आया हूँ, ध्वंसात्मक नहीं। कारण, समालोचना के दिन अब चले गये और आज हम रचनात्मक कार्य करने के लिए उत्सुक हैं। यह सत्य है कि संसार को समय-समय पर समालोचना की जरूरत हुआ करती है, यहाँ तक कि कठोर समालोचना की भी; पर वह केवल अल्प काल के

लिए ही होती है। हमेशा के लिए तो उन्नतिकारी और रचनात्मक कार्य ही वांछित होते हैं, निन्दा करना या नष्ट-भ्रष्ट करना नहीं। लगभग पिछले सौ वर्ष से हमारे इस देश में सर्वत्र समालोचना की बाढ़-सी आ गयी है, देश के सभी अन्धकारमय प्रदेशों पर पाश्चात्त्य विज्ञान का तीव्र प्रकाश डाला गया है, जिससे लोगों की दृष्टि अन्य स्थानों की अपेक्षा ओने-कोने और गली-कूचों की ओर ही अधिक खिंच गयी है। इस देश में सर्वत्र महान् और तेजस्वी मेधासम्पन्न पुरुषों का जन्म हुआ, जिनके हृदय में सत्य और न्याय के प्रति प्रबल अनुराग था, जिनके अन्तःकरण में अपने देश के लिए और सब से बढ़कर ईश्वर तथा अपने धर्म के लिए अगाध प्रेम था। स्वदेश के लिए इन महापुरुषों के प्राण कातर हो उठते थे, देश की दुर्दशा देखकर उनका हृदय रो उठता था, इसलिए वे जिस बात को गलत समझते, उसकी तीव्र आलोचना करते थे। अतीतकालीन इन महापुरुषों की जय हो! उन्होंने देश का बहुत ही कल्याण किया है। पर आज हमें एक महावाणी सुनायी दे रही है, "बस करो, बस करो!" निन्दा पर्याप्त हो चुकी, दोष-दर्शन बहुत हो चुका! अब तो पुनर्निर्माण का, फिर से संगठन करने का समय आ गया है। अब अपनी समस्त बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करने का, उन सब को एक ही केन्द्र में लाने का और उस सम्मिलित शक्ति द्वारा देश को प्रायः सदियों से रुकी हुई उन्नति के मार्ग में अग्रसर करने का समय आ गया है। घर की सफाई हो चुकी है। अब आवश्यकता है उसे नये सिरे से आबाद करने की। रास्ता साफ कर दिया गया है। आर्यसन्तानो, अब आगे बढ़ो!

सज्जनो! इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर मैं आपके सामने

आया हूँ और आरम्भ में ही यह प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मैं किसी दल या विशिष्ट सम्प्रदाय का नहीं हूँ। सभी दल और सभी सम्प्रदाय मेरे लिए महान् और महिमामय हैं। मैं उन सब से प्रेम करता हूँ और अपने जीवन-भर मैं यही ढूँढ़ने का प्रयत्न करता रहा कि उनमें कौन कौनसी बातें अच्छी और सच्ची हैं। इसीलिए आज मैंने संकल्प किया है कि तुम लोगों के सामने उन बातों को पेश करूँ, जिनमें हम एकमत हैं, जिससे कि हमें एकता की सम्मिलन-भूमि प्राप्त हो जाय; और यदि ईश्वर की दया से यह सम्भव हो, तो आओ, हम उसे ग्रहण करें और उसे सिद्धान्त की सीमाओं से बाहर निकाल कार्यरूप में परिणत कर डालें। हम लोग हिन्दू हैं। मैं 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग किसी बुरे अर्थ में नहीं कर रहा हूँ और मैं उन लोगों से कदापि सहमत नहीं जो उससे कोई बुरा अर्थ समझते हों। प्राचीन काल में उस शब्द का अर्थ था—सिन्धु नद के दूसरी ओर बसनेवाले लोग। हमसे घृणा करनेवाले बहुतेरे लोग आज उस शब्द का कुत्सित अर्थ भले ही लगाते हों, पर केवल नाम में क्या धरा है? यह तो हम पर ही पूर्णतया निर्भर है कि 'हिन्दू' नाम ऐसी प्रत्येक वस्तु का द्योतक रहे, जो महिमामय है, आध्यात्मिक है, अथवा वह कलंक का समानार्थी रहे, जो एक पददलित, निकम्मी और धर्मभ्रष्ट जाति का सूचक हो। यदि आज 'हिन्दू' शब्द का कोई बुरा अर्थ है, तो उसकी परवाह मत करो। आओ, अपने कार्यों और आचरणों द्वारा यह दिखाने को तैयार हो जाओ कि समग्र संसार की कोई भी भाषा इससे ऊँचा, इससे महान् शब्द का आविष्कार नहीं कर सकी है। मेरे जीवन की यह नीति रही है कि मैं अपने पूर्वजों की सन्तान कहलाने में लज्जित नहीं होता। मुझ-जैसा गर्वी मानव

इस संसार में शायद ही हो, पर मैं यह स्पष्ट रूप से बता देना चाहता हूँ कि यह गर्व मुझे अपने स्वयं के गुण या शक्ति के कारण नहीं, वरन् अपने पूर्वजों के गौरव के कारण है। जितना ही मैंने अतीत का अध्ययन किया है, जितनी ही मैंने भूतकाल की ओर दृष्टि डाली है, उतना ही यह गर्व मुझमें अधिक आता गया है, उससे मुझे श्रद्धा की दृढ़ता और साहस प्राप्त हुआ है, उसने मुझे धरती की धूलि से ऊपर उठाया है और मैं अपने उन महान् पूर्वजों के निश्चित किये हुए कार्यक्रम के अनुसार कार्य करने को प्रेरित हुआ हूँ। ऐ उन्हीं प्राचीन आर्यों की सन्तानो! ईश्वर करे, तुम लोगों के हृदय में भी वही गर्व आविर्भूत हो जाय, अपने पूर्वजों के प्रति वही विश्वास तुम लोगों के रक्त में भी दौड़ने लगे, वह तुम्हारी रग-रग से मिलकर एक हो जाय और संसार के उद्धार के लिए कार्यशील हो!

भाइयो! यह पता लगाने के पहले कि हम ठीक किस बात में एकमत हैं तथा हमारे जातीय जीवन का सामान्य आधार क्या है, हमें एक बात स्मरण रखनी होगी। जैसे प्रत्येक मनुष्य का एक व्यक्तित्व होता है, ठीक उसी तरह प्रत्येक जाति का भी एक-एक व्यक्तित्व होता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति कुछ विशिष्ट बातों में, अपने विशिष्ट लक्षणों में अन्य व्यक्तियों से पृथक् होता है, उसी प्रकार एक जाति भी कुछ विशिष्ट लक्षणों में, दूसरी जाति से भिन्न हुआ करती है। और जिस प्रकार प्रकृति द्वारा नियमित कार्य में किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति करना प्रत्येक मनुष्य का जीवन-कार्य होता है, जिस प्रकार अपने पूर्व-कर्म द्वारा निर्धारित विशिष्ट मार्ग से उस मनुष्य को चलना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार की अवस्था जातियों की भी है। प्रत्येक जाति

को किसी न किसी दैव-निर्दिष्ट मार्ग से जाना पड़ता है, उसे संसार में एक सन्देश देना पड़ता है तथा कुछ न कुछ व्रतविशेष का उद्यापन करना होता है। अतः आरम्भ से ही हमें यह समझ लेना चाहिए कि हमारी जाति का वह व्रत क्या है, विधाता ने उसे किस कार्य के लिए नियुक्त किया है, विभिन्न जातियों की पृथक्-पृथक् उन्नति और अधिकार में हमें कौनसा स्थान ग्रहण करना है, विभिन्न जातीय स्वरों की समरसता में हमें कौनसा स्वर अलापना है। हम अपने देश में बचपन में यह किस्सा सुना करते हैं कि कुछ सर्पों के फन में मणि होती है और जब तक मणि वहाँ है, तब तक तुम सर्प को मारने का कोई भी उपाय करो, वह नहीं मर सकता। हम लोगों ने किस्से-कहानियों में दैत्यों और दानवों की बातें पढ़ी हैं। उनके प्राण 'हीरामन तोते' के कलेजे में बन्द रहते हैं और जब तक उस 'हीरामन तोते' की जान में जान रहेगी, तब तक उस दानव का बाल भी बाँका न होगा, चाहे तुम उसके टुकड़े-टुकड़े ही क्यों न कर डालो। यह बात जातियों के सम्बन्ध में भी सत्य है। जातिविशेष का जीवन भी ठीक उसी प्रकार मानो किसी विन्दु में केन्द्रित रहता है, वहीं उस जाति की जातीयता रहती है और जब तक मर्मस्थान पर चोट नहीं पड़ती, तब तक वह जाति मर नहीं सकती। इस तत्त्व के प्रकाश में, हम संसार के इतिहास की उस अद्वितीय एवं सब से अपूर्व घटना को समझ सकते हैं। हमारी इस श्रद्धासम्पन्न जन्म-भूमि पर बारम्बार बर्बर जातियों के आक्रमणों की बौछार होती रही है। "अल्लाहो अकबर" के गगन-भेदी नारों से भारत-गगन सदियों तक गूंजता रहा है और मृत्यु की अनिश्चित छाया प्रत्येक हिन्दू के सिर पर मँडराती रही है। ऐसा कोई हिन्दू न रहा

होगा, जिसे पल-पल पर मृत्यु की आशंका न होती रही हो! संसार के इतिहास में इस देश से अधिक दुःख पानेवाला तथा अधिक पराधीनता भोगनेवाला और कौन देश है? पर तो भी, हम जैसे पहले थे, आज भी लगभग वैसे ही बने हुए हैं, आज भी हम आवश्यकता पड़ने पर बारम्बार विपत्तियों का सामना करने को तैयार हैं; और इतना ही नहीं, हाल में ऐसे भी चिह्न दिखायी दिये हैं कि हम केवल शक्तिमान् ही नहीं, वरन् बाहर जाकर दूसरों को अपना भाव देने के लिए भी उद्यत हैं; कारण, विस्तार ही जीवन का चिह्न है।

हम आज देखते हैं कि हमारे भाव और चिन्तन भारत की सरहदों के अन्दर ही घिरे हुए नहीं हैं, बल्कि वे तो, हम चाहें या न चाहें, भारत के बाहर बढ़ रहे हैं, अन्य देशों के साहित्य में प्रविष्ट हो रहे हैं, उन देशों में अपना स्थान प्राप्त कर रहे हैं और इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो वे आदेशदाता गुरु के आसन तक पहुँच गये हैं। इसका कारण यही है कि संसार की सम्पूर्ण उन्नति-समष्टि में भारत का दान सब से श्रेष्ठ रहा है; क्योंकि उसने संसार को ऐसे दर्शन एवं धर्म का दान दिया है, जो मानव-मन को व्यापृत रखनेवाले सारे विषयों में महत्तम और सब से श्रेष्ठ है। हमारे पूर्वजों ने बहुतेरे अन्य प्रयोग किये। हम सब यह जानते हैं कि अन्यान्य जातियों के समान, वे भी पहले बहिर्जगत् के रहस्य के अन्वेषण में लग गये और अपनी विशाल प्रतिभा से वह महान् ज़ाति, प्रयत्न करने पर, उस दिशा में ऐसे-ऐसे अद्भुत आविष्कार कर दिखाती, जो समस्त संसार ने अभी तक स्वप्न में भी नहीं देखे हैं। पर उन्होंने इस पथ को किसी उच्चतर ध्येय की प्राप्ति के लिए छोड़ दिया। वेद के पृष्ठों से उसी महान् ध्येय की

प्रतिध्वनि सुनायी देती है—"सा परा यया तदक्षरमधिगम्यते!"—'वही परा विद्या है, जिससे हमें उस अविनाशी पुरुष की प्राप्ति होती है।' इस परिवर्तनशील, नश्वर प्रकृतिसम्बन्धी विद्या—मृत्यु, दुःख और शोक से भरे इस जगत्सम्बन्धी विद्या बहुत बड़ी भले ही हो; परन्तु जो अपरिणामी एवं आनन्दमय है, जो चिर शान्ति का निधान है, जो शाश्वत जीवन और पूर्णत्व का एकमात्र आश्रय-स्थान है, एकमात्र जहाँ ही सारे दुःखों का अवसान होता है, उस ईश्वर से सम्बन्ध रखनेवाली विद्या ही हमारे पूर्वजों की राय में सब से श्रेष्ठ और उदात्त थी। हमारे पूर्वज यदि चाहते, तो ऐसे विज्ञानों का अन्वेषण सहज ही कर सकते थे, जो हमें केवल अन्न, वस्त्र और अपने साथियों पर आधिपत्य दे सकते हैं, जो हमें केवल दूसरों पर विजय प्राप्त करना और उन पर प्रभुत्व करना सिखाते हैं, जो बली को निर्बल पर हुकूमत करने की शिक्षा देते हैं। पर उस परमेश्वर की अपार दया से हमारे पूर्वजों ने उस ओर बिलकुल ध्यान न देकर एकदम दूसरी दिशा पकड़ी, जो पूर्वोक्त मार्ग से अनन्तगुनी श्रेष्ठ और महान् थी, जिसमें पूर्वोक्त पथ की अपेक्षा अनन्तगुना आनन्द था। इस मार्ग को अपनाकर वे ऐसी अनन्य निष्ठा के साथ उस पर अग्रसर हुए कि आज वह हमारा जातीय विशेषत्व बन गया है, सहस्रों वर्ष से पिता-पुत्र की उत्तराधिकारपरम्परा से आता हुआ आज वह हमारे जीवन से घुलमिल गया है, हमारी रगों में बहनेवाले रक्त की बूंद-बूंद से मिलकर एक हो गया है, वह मानो हमारा दूसरा स्वभाव ही बन गया है, यहाँ तक कि आज 'धर्म' और 'हिन्दू' ये दो शब्द समानार्थी हो गये हैं। यही हमारी जाति का वैशिष्ट्य है और इस पर कोई आघात नहीं कर सकता। बर्बर जातियों ने यहाँ

आकर तलवारों और तोपों के बल पर अपने बर्बर धर्मों का प्रचार किया, पर उनमें से एक भी हमारे मर्मस्थल को स्पर्श न कर सका, सर्प की उस 'मणि' को न छू सका, जातीय जीवन के उस 'हीरामन तोते' को न मार सका। अतएव यही जाति की जीवनी-शक्ति है और जब तक यह अव्याहत है, तब तक संसार में ऐसी कोई ताकत नहीं, जो इस जाति का विनाश कर सके। यदि हम अपनी इस सर्वश्रेष्ठ विरासत आध्यात्मिकता को न छोड़ें, तो संसार के सारे अत्याचार-उत्पीड़न और दुःख हमें बिना चोट पहुँचाये ही निकल जायेंगे और हम लोग दुःख-कष्टाग्नि की उन ज्वालाओं में से प्रह्लाद के समान बिना जले बाहर निकल आयेंगे। यदि कोई हिन्दू धार्मिक नहीं है, तो मैं उसे हिन्दू ही नहीं कहूँगा। दूसरे देशों में भले ही मनुष्य पहले राजनैतिक हो और फिर धर्म से थोड़ासा लगाव रखे, पर यहाँ भारत में तो हमारे जीवन का सब से बड़ा और प्रथम कर्तव्य धर्म का अनुष्ठान है और फिर उसके बाद, यदि अवकाश मिले, तो दूसरे विषय भले ही आ जायँ। इस तथ्य को ध्यान में रखने से, हम यह बात अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे कि अपने जातीय हित के लिए, हमें आज क्यों सब से पहले अपनी जाति की समस्त आध्यात्मिक शक्तियों को ढूँढ़ निकालना होगा, जैसा कि अतीत काल में किया गया था और चिर काल तक किया जायगा। अपनी बिखरी हुई आध्यात्मिक शक्तियों को एकत्र करना ही भारत में जातीय एकता स्थापित करने का एकमात्र उपाय है। जिनकी हृद्-तन्त्री एक ही आध्यात्मिक स्वर में बँधी हैं, उन सब के सम्मिलन से ही भारत में जाति का संगठन होगा।

सज्जनो, इस देश में पर्याप्त पन्थ हुए हैं। आज भी ये पन्थ

पर्याप्त संख्या में हैं और भविष्य में भी पर्याप्त संख्या में रहेंगे। कारण, हमारे धर्म के मूलतत्त्व इतने उदार हैं कि यद्यपि पीछे से उसी में से अनेकों सम्प्रदाय फैले हैं और उनकी बहुविध शाखा-प्रशाखाएँ फूटी हैं, तो भी उनके तत्त्व हमारे सिर पर फैले हुए इस अनन्त आकाश के समान विशाल हैं, स्वयं प्रकृति की भाँति नित्य और सनातन हैं। अतएव सम्प्रदायों का होना तो स्वाभाविक ही है, परन्तु जिसका होना आवश्यक नहीं है, वह है इन सम्प्रदायों के बीच के झगड़े-झमेले। सम्प्रदाय अवश्य रहें, पर साम्प्रदायिकता दूर हो जाय। साम्प्रदायिकता से संसार की कोई उन्नति नहीं होगी, पर सम्प्रदायों के न रहने से संसार का काम नहीं चल सकता। एक ही दल के लोग सब काम नहीं कर सकते। संसार की यह अनन्त शक्ति कुछ थोड़े से लोगों से परिचालित नहीं हो सकती। यह बात समझ लेने पर हमारी समझ में यह भी आ जायेगा कि हमारे भीतर किसलिए यह सम्प्रदाय-भेदरूपी श्रमविभाग अनिवार्य रूप से आ गया है। भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक शक्ति-समूहों का परिचालन करने के लिए सम्प्रदाय कायम रहें। पर इसके लिए हमें एक दूसरे के साथ लड़ने-झगड़ने की कोई आवश्यकता नहीं दिखायी देती, जब हम देखते हैं कि हमारे प्राचीनतम शास्त्र इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि यह सब भेदभाव केवल ऊपर का है, देखने भर का है, और इन सारी विभिन्नताओं के बावजूद भी इनको एक साथ बाँधे रहनेवाला परम मनोहर स्वर्णसूत्र इनके भीतर पिरोया हुआ है। हमारे प्राचीनतम शास्त्रों ने घोषणा की है कि "एकं सत् विप्रा ब' धा वदन्ति"—विश्व में एक ही वस्तु विद्यमान है, ऋषियों ने उसी एक का भिन्न-भिन्न नामों से वर्णन किया है। अतएव ऐसे

भारत में, जहाँ सदा से सभी सम्प्रदाय समान रूप से सम्मानित होते आये हैं, यदि अब भी सम्प्रदायों के बीच ईर्ष्या-द्वेष और लड़ाई-झगड़े बने रहें, तो धिक्कार है हमें, जो हम अपने को उन महिमान्वित पूर्वजों के वंशधर बताने का दुःसाहस करें!

महाशयो, मेरा विश्वास है कि कुछ ऐसे महान् तत्त्व हैं, जिन पर हम सब सहमत हैं, जिन्हें हम सभी मानते हैं—चाहे हम वैष्णव हों या शैव, शाक्त हों या गाणपत्य, चाहे प्राचीन वैदान्तिक सिद्धान्तों को मानते हों या अर्वाचीनों के ही अनुयायी हों, पुरानी लकीर के फकीर हों अथवा नवीन सुधार-संस्कारवादी हों। और जो भी अपने को हिन्दू कहता है, वह इन तत्त्वों में विश्वास रखता है। सम्भव है कि इन तत्त्वों की व्याख्याओं में भेद है—और वैसा होना भी चाहिए; क्योंकि हम लोग सब को एक साँचे में नहीं ढाल सकते। हम जिस तरह की व्याख्या करें, सब को वही व्याख्या माननी पड़ेगी अथवा हमारी ही प्रणाली का अनुसरण करना होगा—जबरदस्ती ऐसी चेष्टा करना पाप है। भाइयो, आज यहाँ पर जो लोग एकत्र हुए हैं, शायद वे सभी एक स्वर से यह स्वीकार करेंगे कि हम लोग वेदों को अपने धर्म-रहस्यों का सनातन उपदेश मानते हैं। हम सभी यह विश्वास करते हैं कि वेदरूपी यह पवित्र शब्दराशि अनादि और अनन्त है। जिस प्रकार प्रकृति का न आदि है न अन्त, उसी प्रकार इसका भी आदि-अन्त नहीं है। और, जब कभी हम इस पवित्र ग्रन्थ को स्पर्श करते हैं, तब हमारे धर्म-सम्बन्धी सारे भेदभाव और झगड़े मिट जाते हैं। हमारे धर्म-विषयक जितने भी भेद हैं, उनकी अन्तिम मीमांसा करनेवाला यही वेद है। वेद क्या है, इस पर हम लोगों में मतभेद हो सकता है। कोई सम्प्रदाय वेद के किसी

एक अंश को दूसरे अंश से अधिक पवित्र समझ सकता है। पर इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, जब तक हम यह विश्वास करते हैं कि वेदों में विश्वासी होने के कारण हम सभी आपस में भाई-भाई हैं तथा उन सनातन, पवित्र और अपूर्व ग्रन्थों से ही ऐसी प्रत्येक पवित्र, महान् और उत्तम वस्तु का उद्भव हुआ है, जिसके कि हम आज अधिकारी हैं। अच्छा, यदि हमारा ऐसा ही विश्वास है, तो फिर सब से पहले इसी तत्त्व का भारतवर्ष में सर्वत्र प्रचार किया जाय। यदि यही सत्य है, तो फिर वेद चिरकाल ही जिस प्राधान्य के अधिकारी हैं तथा वेदों के जिस प्राधान्य में हम लोग भी विश्वास करते हैं, वह प्रधानता वेदों को दी जाय। अतः हम सब की प्रथम मिलन-भूमि है 'वेद'।

दूसरी मिलन-भूमि है 'ईश्वर में विश्वास'। हम सभी ईश्वर में अर्थात् संसार की उस सृष्टि-स्थिति-लय-कारिणी शक्ति में विश्वास करते हैं, जिसमें यह सारा चराचर कल्पान्त में लय होकर दूसरे कल्प के आरम्भ में पुनः जगत्-प्रपंच-रूप से बाहर निकल आता है। हमारी ईश्वर-विषयक कल्पना भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है—कुछ लोग ईश्वर को सम्पूर्ण सगुण रूप में, कुछ उन्हें सगुण तथापि अमानवभावापन्न रूप में, और कुछ उन्हें सम्पूर्ण निर्गुण रूप में ही मान सकते हैं, और सभी अपनी-अपनी धारणा की पुष्टि में वेद के प्रमाण भी दे सकते हैं। पर इन सब विभिन्नताओं के होते हुए भी हम सभी ईश्वर में विश्वास करते हैं। इसी बात को दूसरे शब्दों में ऐसा भी कह सकते हैं कि जिससे यह सकल चराचर उत्पन्न हुआ है, जिसके अवलम्ब से वह जीवित है और अन्त में जिसमें वह फिर से लीन हो जाता है, उस अद्भुत अनन्त शक्ति पर जो विश्वास नहीं करता, वह अपने

को हिन्दू नहीं कह सकता। यदि ऐसी बात है तो इस तत्त्व को भी समग्र भारतवर्ष में फैलाने की चेष्टा करनी होगी। तुम इस ईश्वर का चाहे जिस भाव से प्रचार करो, ईश्वर-सम्बन्धी तुम्हारा भाव भले ही मेरे भाव से भिन्न हो, पर हम इसके लिए आपस में झगड़ा नहीं करेंगे। हम चाहते हैं ईश्वर का प्रचार—बस ईश्वर का ही प्रचार, फिर वह किसी भी रूप में क्यों न हो। हो सकता है, ईश्वर-सम्बन्धी इन विभिन्न धारणाओं में कोई धारणा अधिक श्रेष्ठ हो; पर याद रखना, उनमें कोई भी धारणा बुरी नहीं है। उन धारणाओं में कोई उत्कृष्ट, कोई उत्कृष्टतर और कोई उत्कृष्टतम हो सकती है, पर हमारे धर्मतत्त्व की पारिभाषिक शब्दावली में 'बुरा' नाम का कोई शब्द नहीं है। अतएव, ईश्वर के नाम का चाहे जो कोई जिस भाव से प्रचार करे, वह निश्चय ही ईश्वर के आशीर्वाद का भाजन होगा। उसके नाम का जितना ही अधिक प्रचार होगा, देश का उतना ही कल्याण होगा। हमारे बच्चे बचपन से ही इस भाव को हृदय में धारण करना सीखें—अत्यन्त दरिद्र और नीचातिनीच मनुष्य के घर से लेकर बड़े-से-बड़े धनी-मानी और उच्चतम मनुष्य के घर में भी ईश्वर के शुभ नाम का प्रवेश हो!

प्यारे भाइयो! अब तीसरा तत्त्व मैं आप लोगों के सामने प्रकट करना चाहता हूँ। हम लोग औरों की तरह यह विश्वास नहीं करते कि इस जगत् की सृष्टि केवल कई हजार वर्ष पहले हुई है और एक दिन इसका चिरकाल के लिए ध्वंस हो जायगा। साथ ही, हम यह भी विश्वास नहीं करते कि इसी जगत् के साथ शून्य से जीवात्मा की भी सृष्टि हुई है। मैं समझता हूँ कि इस विषय में भी सारे हिन्दू एकमत हो सकते हैं। हमारा विश्वास

है कि प्रकृति अनादि और अनन्त है; पर हाँ, कल्पान्त में यह स्थूल बाह्य जगत् अपनी सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होता है, और कुछ काल तक उस सूक्ष्मावस्था में रहकर पुनः बाहर आता है तथा प्रकृति-नामक इस अनन्त प्रपंच को प्रकट करता है। यह तरंगाकार गति अनन्त काल से—जब स्वयं काल का ही आरम्भ नहीं हुआ था तभी से—चल रही है और अनन्त काल तक चलती रहेगी।

पुनः हिन्दूमात्र का यह विश्वास है कि मनुष्य केवल यह स्थूल जड़-शरीर ही नहीं है, न ही उसके अभ्यन्तरस्थ यह 'मन' नामक सूक्ष्म-शरीर ही प्रकृत मनुष्य है, वरन् प्रकृत मनुष्य तो इन दोनों से अतीत एवं श्रेष्ठ है। कारण, स्थूल-शरीर परिणामी है और मन का भी वही हाल है; परन्तु इन दोनों से परे उस 'आत्मा' नामक अनिर्वचनीय वस्तु का न आदि है, न अन्त। मैं इस 'आत्मा' शब्द का अँगरेजी में अनुवाद नहीं कर सकता, क्योंकि इसके लिए अँगरेजी में जो भी शब्द उपयोग में लाया जायगा, वह गलत ही होगा। यह आत्मा 'मृत्यु' नामक अवस्था से परिचित नहीं। इसके सिवाय एक और विशिष्ट बात है, जिसमें हमारे साथ अन्यान्य जातियों का बिलकुल मतभेद है। वह यह है कि आत्मा एक देह का अन्त होने पर दूसरी देह धारण करती है; ऐसा करते-करते वह एक ऐसी अवस्था में पहुँचती है, जब उसे फिर शरीर धारण करने की कोई इच्छा या आवश्यकता नहीं रह जाती; तब वह मुक्त हो जाती है और फिर से कभी जन्म नहीं लेती। मेरा तात्पर्य अपने शास्त्रों के संसारवाद या पुनर्जन्मवाद तथा आत्मा के नित्यत्ववाद से है। हम चाहे जिस सम्प्रदाय के हों, पर इस विषय में हम सभी एकमत हैं। इस

आत्मा-परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में हमारे मत भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। एक सम्प्रदाय आत्मा को परमात्मा से सदा अलग मान सकता है, दूसरे के मत से आत्मा उसी अनन्त अग्नि की एक चिनगारी हो सकती है, और किसी तीसरे सम्प्रदाय के मतानुसार वह उस अनन्त से एकरूप और अभिन्न हो सकती है। पर जब तक हम सब लोग इस मूलतत्त्व को मानते हैं, जब तक हम सभी इस बात में एकमत हैं कि आत्मा अनन्त है, उसकी सृष्टि कभी नहीं हुई और इसलिए उसका नाश भी कभी नहीं हो सकता, उसे तो भिन्न-भिन्न शरीरों से क्रमशः उन्नति करते-करते अन्त में मनुष्य-शरीर धारण कर पूर्णत्व प्राप्त करना होगा—तब तक हम आत्मा एवं परमात्मा के इस सम्बन्ध के विषय में चाहे जैसी व्याख्या क्यों न करें, उससे कुछ बनता-बिगडता नहीं।

अब मैं तुम लोगों के समक्ष वह तत्त्व उपस्थित करूँगा, जो प्राच्य और पाश्चात्य भावों में आकाश-पाताल का भेद उत्पन्न कर देता है, जो धर्म-राज्य में सब से उदात्त और आज तक सब से अपूर्व आविष्कार रहा है। तुम लोगों में से जिन्होंने पाश्चात्य चिन्तन-प्रणाली का अध्ययन किया होगा, उन्होंने सम्भवतः यह लक्ष्य किया होगा कि एक ऐसा मौलिक प्रभेद है, जो पाश्चात्य विचारों को एक ही चोट में पूर्वीय विचारों से पृथक् कर देता है। वह यह है कि भारत में हम सभी, चाहे हम शाक्त हों या सौर या वैष्णव, चाहे बौद्ध हों या जैन ही—हम सब-के-सब यही विश्वास करते हैं कि आत्मा स्वभावतः शुद्ध, पूर्ण, अनन्तशक्ति-सम्पन्न और आनन्दमय है। अन्तर केवल इतना है कि द्वैतवादियों के मत से आत्मा का वह स्वाभाविक आनन्दस्वभाव पिछले बुरे

कर्मों के कारण संकुचित हो गया है, ईश्वर के अनुग्रह से वह फिर खिल जायेगा और आत्मा पुनः अपने पूर्ण स्वभाव को प्राप्त हो जायेगी। पर अद्वैतवादी कहते हैं कि आत्मा के संकुचित होने की यह धारणा भी अंशतः भ्रमात्मक है—हम तो माया के आवरण के कारण ही ऐसा समझते हैं कि आत्मा अपनी सारी शक्ति गँवा बैठी है, जब कि वास्तव में उसकी समस्त शक्ति तब भी पूर्ण रूप से प्रकाशित रहती है। द्वैत और अद्वैतवादियों के बीच यह अन्तर रहने पर भी वे सभी इस मूलतत्त्व में विश्वास करते हैं कि आत्मा स्वभावतः ही पूर्ण है, और यही प्राच्य और पाश्चात्य भावों के बीच एक वज्रदृढ़ दीवार खड़ी कर देता है। जो कुछ महान् है, जो कुछ शुभ है, प्राच्यजाति उसका अन्वेषण अन्दर में करती है। जब हम पूजा-उपासना करते हैं, तब आँखें बन्द कर ईश्वर को अन्दर ढूंढ़ने का प्रयत्न करते हैं, और पाश्चात्य-जाति अपने बाहर ही ईश्वर को ढूंढ़ती फिरती है। पाश्चात्यों के धर्म-ग्रन्थ Inspired (in—अन्दर में, spirare—श्वास लेना) हैं, अर्थात् श्वास की तरह बाहर से भीतर आये हुए हैं। पर हमारे धर्म-ग्रन्थ Expired अर्थात् भीतर से बाहर निकले हुए हैं—ईश्वर-निःश्वसित हैं, मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के हृदयों से निकले हैं।

यह एक प्रधान बात है, जिसे अच्छी तरह समझ लेने की आवश्यकता है। प्यारे भाइयो ! मैं तुम लोगों को यह बताये देता हूँ कि यही बात भविष्य में हमें विशेष रूप से बार-बार बतलानी और समझानी पड़ेगी। कारण, यह मेरा दृढ़ विश्वास है और मैं तुम लोगों से भी यह बात अच्छी तरह समझ लेने को कहता हूँ कि जो व्यक्ति दिन-रात अपने को दीन-हीन या अयोग्य समझे हुए बैठा रहेगा, उसके द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता;

वास्तव में दिन-दिन वह अपनी उसी कल्पित अवस्था को प्राप्त होता जायेगा। यदि तुम कहो कि 'मेरे अन्दर शक्ति है,' तो तुममें शक्ति जाग उठेगी। और यदि तुम सोचो कि 'मैं कुछ नहीं हूँ'—दिन-रात यही सोचा करो, तो तुम सचमुच ही 'कुछ नहीं' हो जाओगे। तुम्हें यह महान् तत्त्व सदा स्मरण रखना चाहिए। हम तो उसी सर्वशक्तिमान् परमपिता की सन्तान हैं, उसी ब्रह्माग्नि की चिनगारियाँ हैं—भला हम 'कुछ नहीं' क्योंकर हो सकते हैं? हम सब कुछ कर सकते हैं, हमें सब कुछ करना ही होगा—हमारे पूर्वजों में ऐसा ही दृढ़ आत्मविश्वास था। इसी आत्मविश्वासरूपी प्रेरणा-शक्ति ने उन्हें सभ्यता की उच्च से उच्चतर सीढ़ी पर चढ़ाया था। और, अब यदि हमारी अवनति हुई हो, हम में दोष आया हो, तो मैं तुमसे सच कहता हूँ, जिस दिन हमारे पूर्वजों ने अपना यह आत्मविश्वास गँवाया, उसी दिन से हमारी यह अवनति, यह दुरवस्था आरम्भ हो गयी। आत्मविश्वासहीनता का मतलब है ईश्वर में अविश्वास। क्या तुम्हें विश्वास है कि वही अनन्त-मंगलमय विधाता तुम्हारे भीतर से काम कर रहा है? यदि तुम ऐसा विश्वास करो कि वही सर्वव्यापी अन्तर्यामी प्रत्येक अणु-परमाणु में—तुम्हारे शरीर, मन और आत्मा में—ओत-प्रोत है, तो फिर क्या तुम कभी उत्साह से वंचित रह सकते हो? मैं पानी का एक छोटासा बुलबुला हो सकता हूँ, और तुम एक पर्वतप्राय तरंग; तो इससे क्या? वह अनन्त समुद्र जैसा तुम्हारे लिए, वैसा ही मेरे लिए भी आश्रय है। उस प्राण, शक्ति और आध्यात्मिकता के असीम सागर में जैसा तुम्हारा, वैसा ही मेरा भी अधिकार है। मेरे जन्म से ही मुझमें जीवन होने से ही यह प्रमाणित हो रहा है कि तुम्हारे समान मैं भी उसी अनन्त जीवन, अनन्त शिव और

अनन्त शक्ति के साथ नित्यसंयुक्त हूँ, फिर तुम पर्वतप्राय ही क्यों न होओ! अतएव, भाइयो! तुम अपनी सन्तानों को उनके जन्म-काल से ही इस महान्, जीवनप्रद, उच्च और उदात्त तत्त्व की शिक्षा देना प्रारम्भ कर दो। उन्हें अद्वैतवाद की शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं, तुम चाहे द्वैतवाद की शिक्षा दो या जिस किसी 'वाद' की, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। कारण, मैंने यह पहले ही बता दिया है कि आत्मा की पूर्णता के इस अपूर्व सिद्धान्त को सभी सम्प्रदायवाले समान-रूप से मानते हैं। हमारे पूज्य दार्शनिक कपिल महर्षि ने कहा है कि पवित्रता यदि आत्मा का स्वरूप न हो, तो आत्मा बाद में कभी भी पवित्रता को प्राप्त नहीं हो सकती। कारण, जो स्वभावतः पूर्ण नहीं है, वह यदि किसी प्रकार पूर्णता पा भी ले, तो वह पूर्णता उसमें स्थिर भाव से नहीं रह सकती—उससे पुनः चली जायेगी। यदि अपवित्रता ही मनुष्य का स्वभाव हो, तो भले ही वह कुछ समय के लिए पवित्रता प्राप्त कर ले, पर वह सदा के लिए अपवित्र ही बना रहेगा। कभी-न-कभी ऐसा समय आयेगा, जब वह पवित्रता धुल जायेगी—दूर हो जायेगी, और फिर वही पुरानी स्वाभाविक अपवित्रता अपना सिक्का जमा लेगी। अतएव हमारे सभी दार्शनिकगण कहते हैं कि पवित्रता ही हमारा स्वभाव है, अपवित्रता नहीं; पूर्णता ही हमारा स्वभाव है, अपूर्णता नहीं। इस बात को तुम सदा स्मरण रखो। उस महर्षि के सुन्दर दृष्टान्त को सदैव स्मरण रखो, जो शरीर-त्याग करते समय अपने मन से अपने किये हुए उत्कृष्ट कार्यों और उच्च विचारों का स्मरण करने के लिए कहते हैं।* देखो, उन्होंने अपने मन से अपने दोषों और

* ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।—ईशोपनिषद्, १७

दुर्बलताओं की याद करने के लिए नहीं कहा है। यह सच है कि मनुष्य में दोष हैं, दुर्बलताएँ हैं; पर तुम सर्वदा अपने वास्तविक स्वरूप का स्मरण करो—बस यही इन दोषों और दुर्बलताओं के दूर करने का अमोघ उपाय है।

सज्जनो, मैं समझता हूँ कि मैंने ऊपर जो कतिपय तत्त्व बतलाये हैं, उन्हें भारतवर्ष के सभी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवाले स्वीकार करते हैं और सम्भवतः भविष्य में इसी सर्व-स्वीकृत आधार पर समस्त सम्प्रदायों के लोग, वे उदार हों या कट्टर, पुरानी लकीर के फकीर हों या नयी रोशनीवाले, सभी-के-सभी सम्मिलित होंगे। पर सब से बढ़कर एक बात और है, जिसे हमें हरदम याद रखना चाहिए। वह यह है कि भारत में धर्म का तात्पर्य है 'प्रत्यक्ष अनुभूति'। मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हम यह महत्त्वपूर्ण तत्त्व समय-समय पर भूल जाते हैं। यदि धर्म में यह प्रत्यक्षानुभूति न हो, तो वह वास्तव में 'धर्म' कहलाने योग्य नहीं है। हमें ऐसी बात कोई नहीं सिखा सकता कि 'यदि तुम इस मत को स्वीकार करो, तो तुम्हारा उद्धार हो जायेगा।' कारण, हम उस बात पर विश्वास करते ही नहीं। तुम अपने को जैसा बनाओगे, अपने को जैसे साँचे में ढालोगे, वैसे ही बनोगे। तुम जो कुछ हो, जैसे हो, वह ईश्वर की कृपा और अपने प्रयत्न से बने हो। किसी मतामत में विश्वास करने से तुम्हारा कोई विशेष उपकार नहीं होगा। 'अनुभूति', 'अनुभूति' की यह महती शक्तिमयी वाणी भारत के ही आध्यामिक गगनमण्डल से आविर्भूत हुई है और एकमात्र हमारे ही शास्त्रों ने यह बारम्बार कहा है कि "ईश्वर के 'दर्शन' करने होंगे।" यह बात बड़े साहस की है, इसमें सन्देह नहीं; पर उसका

लेशमात्र भी मिथ्या नहीं है, वह अक्षरशः सत्य है। धर्म की प्रत्यक्ष अनुभूति करनी होगी, केवल सुनने से काम न चलेगा; तोते की तरह कुछ थोड़े से शब्द और धर्म-विषयक बातें रट लेने से काम न चलेगा; केवल बुद्धि द्वारा स्वीकार कर लेने से काम न चलेगा--आवश्यकता है हमारे अन्दर धर्म के प्रवेश करने की। अतः ईश्वर पर हम जो विश्वास करते हैं, उसका प्रमाण हमारी तर्क-बुद्धि या दलीलें नहीं हैं, वरन् ईश्वर के अस्तित्व का सर्वोच्च प्रमाण तो यह है कि हमारे यहाँ के प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी पहुँचे हुए लोगों ने ईश्वर का साक्षात्कार किया है। आत्मा के अस्तित्व पर हम केवल इसलिए विश्वास नहीं करते कि हमारे पास उसके प्रमाण में उत्कृष्ट युक्तियाँ हैं, वरन् इसलिए कि प्राचीन काल में भारतवर्ष के सहस्र व्यक्तियों ने आत्मा के प्रत्यक्ष दर्शन किये हैं; आज भी ऐसे बहुत से हैं, जिन्होंने आत्मोपलब्धि की है; और भविष्य में भी ऐसे हजारों लोग होंगे, जिन्हें हृदय में आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति होगी। जब तक मनुष्य ईश्वर के दर्शन न कर लेगा, आत्मा की उपलब्धि न कर लेगा, तब तक उसकी मुक्ति असम्भव है। अतएव, आओ, सब से पहले हम इस बात को भलीभाँति समझ लें; और हम इसे जितना ही अधिक समझेंगे, उतना ही भारत में साम्प्रदायिकता का ह्रास होगा। कारण, यथार्थ धार्मिक वही है, जिसने ईश्वर के दर्शन पाये हैं, जिसने अन्तर में उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि की है। तब तो—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥"‡

—"जिसने उन्हें देख लिया, जो हमारे निकट से भी निकट हैं,

‡ मुण्डकोपनिषद्, २।२।८

फिर दूर से भी दूर, उसके हृदय की गाँठें खुल जाती हैं, उसके सारे संशय दूर हो जाते हैं और वह कर्मफल के समस्त बन्धनों से छुटकारा पा जाता है !"

हा हन्त ! हम लोग बहुधा अर्थहीन वागाडम्बर को ही आध्यात्मिक सत्य समझ बैठते हैं, पाण्डित्य से भरी सुललित वाक्यरचना को ही गम्भीर धर्मानुभूति समझ लेते हैं। इसी से यह सारी साम्प्रदायिकता आती है, सारा विरोध-भाव उत्पन्न होता है। यदि हम एक बार इस बात को भलीभाँति समझ लें कि 'प्रत्यक्ष अनुभूति' ही प्रकृत धर्म है, तो हम अपने ही हृदय को टटोलेंगे और यह समझने का प्रयत्न करेंगे कि हम धर्म-राज्य के सत्यों की उपलब्धि की ओर कहाँ तक अग्रसर हुए हैं। और तब हम यह समझ जायेंगे कि हम स्वयं अन्धकार में भटक रहे हैं और अपने साथ दूसरों को भी उसी अन्धकार में भटका रहे हैं। बस, इतना समझने पर हमारी साम्प्रदायिकता और लड़ाई मिट जायेगी। यदि कोई तुमसे साम्प्रदायिक झगड़ा करने को तैयार हो, तो उससे पूछो, "तुमने क्या ईश्वर के दर्शन किये हैं ? क्या तुम्हें कभी आत्मदर्शन प्राप्त हुआ है ? यदि नहीं, तो तुम्हें ईश्वर के नाम का प्रचार करने का क्या अधिकार है ? तुम तो स्वयं अँधेरे में भटक रहे हो और मुझे भी उसी अँधेरे में घसीटने की कोशिश कर रहे हो ? 'अन्धा अन्धे को राह दिखाये' के अनुसार तुम मुझे भी गड्ढे में ले गिरोगे !"

अतएव किसी दूसरे के साथ विवाद करने से पहले जरा सोच-समझकर आगे बढ़ना। सब को अपनी-अपनी राह से चलने दो—'प्रत्यक्ष अनुभूति' की ओर अग्रसर होने दो। सभी अपने-अपने हृदय में उस सत्यस्वरूप आत्मा के दर्शन करने का प्रयत्न करें। और

जब वे उस भूमा के, उस अनावृत सत्यस्वरूप के दर्शन कर लेंगे, तभी उससे प्राप्त होनेवाला अपूर्व आनन्द का अनुभव कर सकेंगे। आत्मोपलब्धि से प्रसूत होनेवाला यह अपूर्व आनन्द कपोल-कल्पित नहीं है; वरन् भारत के प्रत्येक ऋषि ने, प्रत्येक सत्यद्रष्टा पुरुष ने इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया है। और तब, उस आत्मदर्शी हृदय से आप ही आप प्रेम की धारा फूट पड़ेगी; कारण, उसे ऐसे परमपुरुष का स्पर्श प्राप्त हुआ है जो स्वयं प्रेमस्वरूप है। बस तभी हमारे सारे साम्प्रदायिक लड़ाई-झगड़े दूर होंगे; और तभी हम 'हिन्दू' शब्द को तथा प्रत्येक हिन्दू-नामधारी व्यक्ति को यथार्थतः समझने, हृदय में धारण करने तथा गम्भीर रूप से प्रेम करने एवं आलिंगन करने में समर्थ होंगे।

मेरी बात पर ध्यान दो, केवल तभी तुम वास्तव में हिन्दू कहलाने योग्य होगे, जब 'हिन्दू' शब्द को सुनते ही तुम्हारे अन्दर बिजली दौड़ने लग जायेगी। केवल तभी तुम सच्चा हिन्दू कहला सकोगे, जब तुम किसी भी प्रान्त के, कोई भी भाषा बोलनेवाले प्रत्येक हिन्दू-संज्ञक व्यक्ति को एकदम अपना सगा समझने लगोगे। केवल तभी तुम सच्चे हिन्दू माने जाओगे, जब किसी भी हिन्दू कहलानेवाले का दुःख तुम्हारे हृदय में तीर की तरह आकर चुभेगा, मानो तुम्हारा अपना लड़का ही विपत्ति में पड़ गया हो! केवल तभी तुम यथार्थतः 'हिन्दू' नाम के योग्य होगे, जब तुम उनके लिए समस्त अत्याचार एवं उत्पीड़न सहने के लिए तैयार रहोगे। इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं—तुम्हारे ही गुरु गोविन्दसिंह, जिनकी चर्चा मैं आरम्भ में ही कर चुका हूँ। इस महात्मा ने देश के शत्रुओं के विरुद्ध लोहा लिया, हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए अपने हृदय का रक्त बहाया, अपने पुत्रों को अपनी

आँखों के सामने मौत के घाट उतरते देखा—पर जिनके लिए इन्होंने अपना और अपने प्राणों से बढ़कर प्यारे पुत्रों का खून बहाया, उन्हीं लोगों ने, इनकी सहायता करना तो दूर रहा, उलटे इन्हें त्याग दिया!—यहाँ तक कि देश से भी निकाल दिया! अन्त में मर्मान्तक चोट खाये हुए सिंह की भाँति यह नरकेसरी शान्तिपूर्वक अपने जन्मस्थान को छोड़ दक्षिण भारत में जाकर मृत्यु की राह देखने लगा; परन्तु अपने जीवन के अन्तिम मुहूर्त तक उसने अपने उन कृतघ्न देशवासियों के प्रति कभी अभिशाप का एक शब्द भी मुँह से नहीं निकाला। मेरी बात पर गौर करो——सुनो। यदि तुम देश की भलाई करना चाहते हो, तो तुममें से प्रत्येक को गुरु गोविन्दसिंह बनना पड़ेगा। तुम्हें अपने देशवासियों में भले ही हजारों दोष दिखायी दें, पर तुम उनकी रग-रग में बहनेवाले हिन्दू-रक्त की ओर ध्यान दो। तुम्हें पहले अपने इन स्वजातीय नर-रूप देवताओं की पूजा करनी होगी, भले ही वे तुम्हारी बुराई के लिए लाख चेष्टा किया करें। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति यदि तुम पर अभिशाप और निन्दा की बौछार करे, तो भी तुम इनके प्रति प्रेमपूर्ण वाणी का ही प्रयोग करो। यदि ये तुम्हें त्याग दें, पैरों से ठुकरा दें, तो तुम उसी वीर-केसरी गोविन्दसिंह की भाँति समाज से दूर जाकर नीरव भाव से मौत की राह देखो। जो ऐसा कर सकता है, वही सच्चा हिन्दू कहलाने का अधिकारी है। हमें अपने सामने सदा इसी प्रकार का आदर्श उपस्थित रखना होगा। पारस्परिक विरोधभाव को भूलकर चारों ओर प्रेम का प्रवाह बहाना होगा।

लोग 'भारतोद्धार' के लिए जो जी में आये कहें। मैं जीवन-भर काम करता रहा हूँ, कम से कम काम करने का प्रयत्न

करता रहा हूँ; मैं अपने अनुभव के बल पर तुमसे कहता हूँ कि जब तक तुम सच्चे अर्थों में धार्मिक नहीं होते, तब तक भारत का उद्धार होना असम्भव है। केवल भारत ही क्यों, सारे संसार का कल्याण इसी पर निर्भर है। कारण, मैं तुम्हें स्पष्टतया बताये देता हूँ कि इस समय पाश्चात्य सभ्यता अपनी नींव तक हिल गयी है। जड़वाद की कच्ची रेतीली नींव पर खड़ी होनेवाली बड़ी-से-बड़ी इमारतें भी एक-न-एक दिन अवश्य ही नीचे आ रहेंगी। इस विषय में संसार का इतिहास ही सब से बड़ा साथी है। जाति-पर-जाति उठी हैं और जड़वाद की नींव पर अपने गौरव का प्रासाद खड़ा किया है। उन्होंने एक दूसरी की अपेक्षा अपना सिर ऊपर उठाया है तथा संसार के समक्ष यह घोषणा की है कि जड़ के सिवाय मनुष्य और कुछ नहीं है। जरा गौर करो, पाश्चात्य भाषा में मृत्यु के लिए कहते हैं—"मनुष्य ने आत्मा छोड़ दी" (A man gives up the ghost); पर हम अपनी भाषा में कहते हैं, "अमुक ने शरीर छोड़ दिया।" पाश्चात्य-देशवासी अपने सम्बन्ध में कहते समय पहले देह को ही लक्ष्य करता है, उसके बाद उसके एक आत्मा है—इस प्रकार वह उल्लेख करता है। पर हम लोग सब से पहले अपने को आत्मा समझते हैं, उसके बाद हमारी एक देह है, ऐसा कहा करते हैं। इन दो विभिन्न वाक्यों की आलोचना करने पर तुम देखोगे कि प्राच्य और पाश्चात्य विचार-प्रणाली में कितना अन्तर है। इसीलिए जितनी सभ्यताएँ भौतिक सुख-स्वच्छता की रेतीली नींव पर कायम हुई थीं, वे सभी थोड़े ही समय के लिए जीवित रहकर एक-एक करके लुप्त हो गयीं; परन्तु भारत की सभ्यता, यही क्यों, भारत के चरणों के पास बैठकर शिक्षा ग्रहण करनेवाले चीन और जापान

की सभ्यता भी आज भी जीवित है; और इतना ही नहीं, बल्कि उनमें पुनरुत्थान के लक्षण भी दिखायी दे रहे हैं। 'फिनिक्स'* के समान हजारों बार नष्ट होने पर भी वे पुनः अधिक़ तेजस्वी होकर प्रस्फुरित होने को तैयार हैं। पर जड़वाद के आधार पर जो सभ्यताएँ स्थापित हैं, वे यदि एक बार नष्ट हो गयीं, तो फिर उठ नहीं सकतीं—एक बार यदि महल ढह पड़ा, तो बस सदा के लिए धूल में मिल गया! अतएव, धैर्य के साथ राह देखते रहो, भावी गौरव हमारे लिए संचय करके रखा हुआ है।

उतावले मत बनो, किसी दूसरे का अनुकरण करने की चेष्टा मत करो। दूसरे का अनुकरण करना सभ्यता की निशानी नहीं है; यह एक बड़ा पाठ है, जो हमें याद रखना है। मैं यदि आप ही राजा की-सी पोशाक पहन लूं, तो क्या इतने ही से मैं राजा बन जाऊँगा? शेर की खाल ओढ़कर गधा कभी शेर नहीं बन सकता। अनुकरण करना—हीन और डरपोक की तरह अनुकरण करना कभी उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ा सकता। वह तो मनुष्य के अधःपतन का लक्षण है। जब मनुष्य अपने आप पर घृणा करने लग जाता है, तब समझना चाहिए कि उस पर अन्तिम चोट बैठ चुकी है। जब वह अपने पूर्वजों को मानने में लज्जित होता है, तो समझ लो कि उसका विनाश निकट है। यद्यपि मैं हिन्दू-जाति में एक नगण्य व्यक्ति हूँ, तथापि अपनी जाति और अपने पूर्वजों के गौरव से मैं अपना गौरव मानता हूँ। अपने को हिन्दू बताते और हिन्दू कहकर अपना परिचय देते हुए

* ग्रीक दन्तकथाओं के अनुसार फिनिक्स (Phoenix) एक चिड़िया है, जो अकेली ५०० वर्ष तक जीती है और पुनः अपने भस्म में से जी उठती है।

क प्रकार का गर्व-सा होता है। मैं तुम लोगों का एक तुच्छ सेवक होने में अपना गौरव समझता हूँ। तुम लोग आर्य-ऋषियों के वंशधर हो—उन ऋषियों के, जिनकी महत्ता की तुलना नहीं हो सकती। मुझे इसका गर्व है कि मैं तुम्हारे देश का एक नगण्य नागरिक हूँ। अतएव, भाइयो, आत्मविश्वासी बनो। पूर्वजों के नाम से अपने को लज्जित नहीं, गौरवान्वित समझो। याद रहे, किसी का अनुकरण कदापि न करना। कदापि नहीं। जब कभी तुम औरों के विचारों का अनुकरण करते हो, तुम अपनी स्वाधीनता गँवा बैठते हो। यहाँ तक कि आध्यात्मिक विषय में भी यदि तुम दूसरों के आज्ञाधीन हो कार्य करोगे, तो अपनी सारी शक्ति यहाँ तक कि विचार की शक्ति भी खो बैठोगे। अपने स्वयं के प्रयत्नों द्वारा अपने अन्दर की शक्तियों का विकास करो। पर देखो, दूसरे का अनुकरण न करना। हाँ, दूसरों के पास जो कुछ अच्छाई हो, उसे अवश्य ग्रहण करो। हमें दूसरों से अवश्य सीखना होगा। जमीन में बीज बो दो, उसके लिए पर्याप्त मिट्टी, हवा और पानी की व्यवस्था करो; जब वह बीज अंकुरित होकर कालान्तर में एक विशाल वृक्ष के रूप में फैल जाता है तब क्या वह मिट्टी बन जाता है, या हवा, या पानी? नहीं, वह तो विशाल वृक्ष ही बनता है—मिट्टी, हवा और पानी से रस खींचकर वह अपनी प्रकृति के अनुसार एक महीरुह का रूप ही धारण करता है। उसी प्रकार तुम भी करो—औरों से उत्तम बातें सीखकर उन्नत बनो। जो सीखना नहीं चाहता, वह तो पहले ही मर चुका है। महर्षि मनु ने कहा है—

"आददीत परां विद्यां प्रयत्नादवरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥"

—'नीच व्यक्ति की सेवा करके उससे भी श्रेष्ठ विद्या सीखने का प्रयत्न करो। चाण्डाल द्वारा भी श्रेष्ठ धर्म की शिक्षा ग्रहण करो, इत्यादि।'

औरों के पास जो कुछ भी अच्छा पाओ, सीख लो; पर उसे अपने भाव के साँचे में ढालकर लेना होगा—दूसरे की शिक्षा ग्रहण करते समय उसके ऐसे अनुगामी न बनो कि अपनी स्वतन्त्रता गँवा बैठो। भारत के इस जातीय जीवन को भूल मत जाना—पल-भर के लिए भी ऐसा न सोचना कि भारतवर्ष के सभी अधिवासी यदि अमुक जाति की वेश-भूषा धारण कर लेते या अमुक जाति के आचार-व्यवहारादि के अनुयायी बन जाते, तो बड़ा अच्छा होता। यह तो तुम भलीभाँति जानते हो कि कुछ ही वर्षों का अभ्यास छोड़ देना कितना कठिन होता है! फिर यह ईश्वर ही जानता है कि तुम्हारे रक्त के बिन्दु-बिन्दु में कितने सहस्र वर्षों का संस्कार जमा हुआ है; कितने सहस्र वर्षों से यह प्रबल जातीय जीवन-स्रोत एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित हो रहा है। और क्या यह समझते हो कि वह प्रबल धारा, जो प्रायः अपने समुद्र के समीप पहुँच चुकी है, पुनः उलटकर हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों पर वापस जा सकती है? यह असम्भव है! यदि ऐसी चेष्टा करोगे, तो स्वयं ही नष्ट हो जाओगे। अतएव, इस जातीय जीवन-स्रोत को पूर्ववत् प्रवाहित होने दो। हाँ, जो बाँध इसके रास्ते में रुकावट डाल रहे हैं, उन्हें काट दो; इसका रास्ता साफ करके प्रवाह को मुक्त कर दो; देखोगे, यह जातीय जीवन-स्रोत अपनी स्वाभाविक गति से फूटकर आगे बढ़ निकलेगा और यह जाति अपनी सर्वांगीण उन्नति करते-करते अपने चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होती जायगी।

भाइयो ! यही कार्यप्रणाली है जो हमें भारत में धर्म के क्षेत्र में अपनानी होगी। इसके सिवा और भी कई महती समस्याएँ हैं, जिनकी चर्चा समयाभाव से आज मैं नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए जाति-भेद-सम्बन्धी अद्भुत समस्या को ही ले लो। मैं जीवन-भर इस समस्या पर हरएक पहलू से विचार करता रहा हूँ। भारत के प्रायः प्रत्येक प्रान्त में जाकर मैंने इस समस्या का अध्ययन किया है। इस देश के लगभग हरएक भाग की विभिन्न जातियों के साथ मैं मिला-जुला हूँ। पर जितना ही मैं इस विषय पर विचार करता हूँ, मेरे सामने उतनी ही कठिनाइयाँ आ पड़ती हैं और मैं इसके उद्देश्य एवं तात्पर्य के विषय में किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो जाता हूँ। अन्त में अब मेरी आँखों के सामने एक क्षीण आलोकरेखा-सी दिखायी देने लगी है, इधर कुछ समय से इसका मूल उद्देश्य कुछ-कुछ मेरी समझ में आने लगा है।

इसके वाद फिर खान-पान की समस्या भी बड़ी विषम है। वास्तव में यह एक वड़ी जटिल समस्या है। साधारणतः हम लोग इसे जितना अनावश्यक समझते हैं, सच पूछो तो यह उतना अनावश्यक नहीं है। मैं तो इस सिद्धान्त पर आ पहुँचा हूँ कि आजकल खान-पान के वारे में हम लोग जिस बात पर जोर देते हैं, वह एक बड़ी विचित्र बात है—वह शास्त्रानुमोदित नहीं है। तात्पर्य यह कि खान-पान में वास्तविक पवित्रता की अवहेलना करके ही हम लोग कष्ट पा रहे हैं—हम शास्त्रानुमोदित आहार-प्रथा को विलकुल भूल गये हैं।

इसी प्रकार, और भी कई समस्याएँ हैं जिन्हें मैं आप लोगों के समक्ष रखना चाहता हूँ और साथ ही यह भी वतलाना चाहता हूँ कि इन समस्याओं के समाधान क्या हैं तथा किस प्रकार इन

समाधानों को कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है। पर दुःख है, सभा के व्यवस्थित रूप से आरम्भ होने में देर हो गयी, और अब मैं आप लोगों को और अधिक नहीं रोकना चाहता। अतएव, जाति-भेद तथा अन्यान्य समस्याओं पर मैं फिर कभी कुछ कहूँगा। आशा है, भविष्य में हम लोग शान्त और व्यवस्थित रूप से सभा का आयोजन करने की चेष्टा करेंगे।

सज्जनो, अब केवल एक बात और कहकर मैं आध्यात्मिक तत्त्व-विषयक अपना वक्तव्य समाप्त कर दूंगा। भारत में धर्म बहुत दिनों से गतिहीन बना हुआ है। हम चाहते हैं कि उसमें गति उत्पन्न हो। मैं प्रत्येक मनुष्य के जीवन में इस धर्म को प्रतिष्ठित हुआ देखना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि प्राचीनकाल की तरह राजमहल से लेकर दरिद्र के झोपड़े तक सर्वत्र समान भाव से धर्म का प्रवेश हो। याद रहे, धर्म ही इस जाति का साधारण उत्तराधिकारी एवं जन्मसिद्ध स्वत्व है। इस धर्म को हरएक आदमी के दरवाज़े तक निःस्वार्थ भाव से पहुँचना होगा। ईश्वर के राज्य में जिस प्रकार वायु सब के लिए समान रूप से प्राप्त होती है, उसी प्रकार भारतवर्ष में धर्म को सुलभ बनाना होगा। इसी प्रकार भारत में कार्य करना होगा। पर छोटे-छोटे दल बाँध आपसी मतभेदों पर विवाद करते रहने से नहीं बनेगा; हमें तो उन बातों का प्रचार करना होगा, जिनमें हम सब एक-मत हैं। और तब आपसी मतभेद आप-ही-आप दूर हो जायँगे। मैंने भारतवासियों से बारम्बार कहा है और अब भी कह रहा हूँ कि कमरे में यदि सैकड़ों वर्षों से अन्धकार फैला हुआ है, तो क्या 'घोर अन्धकार!' 'भयंकर अन्धकार!!' कहकर चिल्लाने से अन्धकार दूर हो जायगा? नहीं; रोशनी जला दो, फिर देखो

कि अँधेरा आप-ही-आप दूर हो जाता है या नहीं। मनुष्य के सुधार का, उसके संस्कार का यही रहस्य है। उसके समक्ष उच्चतर बातें, उच्चतर प्रेरणाएँ रखो; पहले मनुष्य में—उसकी मनुष्यता में विश्वास रखो। कार्यक्षेत्र में ऐसा विश्वास लेकर क्यों उतरना कि मानव हीन और पतित है? मैं आज तक मनुष्य पर—बुरे से बुरे मनुष्य पर भी—विश्वास करके कभी विफल नहीं हुआ हूँ। सब जगह मुझे इच्छित फल ही प्राप्त हुआ है—सर्वत्र सफलता ही मिली है। अतएव, मनुष्य में विश्वास रखो—चाहे वह पण्डित हो या घोर मूर्ख, साक्षात् देवता जान पड़े या मूर्तिमान् शैतान; सब से पहले मनुष्य में विश्वास रखो, और तदुपरान्त यह विश्वास लाने का प्रयत्न करो कि यदि उसमें दोष हैं, यदि वह गलतियाँ करता है, यदि वह अत्यन्त घृणित और असार सिद्धान्तों को अपनाता है, तो वह अपने यथार्थ स्वभाव के कारण ऐसा नहीं करता, वरन् उच्चतर आदर्शों के अभाव में वैसा करता है। यदि कोई व्यक्ति असत्य की ओर जाता है, तो उसका कारण यही समझो कि वह सत्य को पकड़ नहीं पाता। अतएव, मिथ्या को दूर करने का एकमात्र उपाय यही है कि उसे सत्य का ज्ञान कराया जाय। उस ज्ञान को पाकर वह उसके साथ अपने मन के भाव की तुलना करे। तुमने तो उसे सत्य का असली रूप दिखा दिया—बस यहीं तुम्हारा काम समाप्त हो गया। अब वह स्वयं उस सत्य के साथ अपने भाव की तुलना करके देखे। यदि तुमने वास्तव में उसे सत्य का ज्ञान करा दिया है, तो निश्चय जानो, मिथ्या भाव अवश्य दूर हो जायगा। प्रकाश कभी अन्धकार का नाश किये बिना नहीं रह सकता। सत्य अवश्य ही उसके भीतर के सद्भावों को प्रकाशित करेगा। यदि सारे देश का

आध्यात्मिक संस्कार करना चाहते हो, तो उसके लिए यही रास्ता है—नान्यः पन्था ! वाद-विवाद या लड़ाई-झगड़ों से कभी अच्छा फल नहीं हो सकता। लोगों से यह भी कहने की आवश्यकता नहीं कि तुम लोग जो कुछ कर रहे हो, वह ठीक नहीं है—खराब है। जो कुछ अच्छा है, उसे उनके सामने रख दो; फिर देखो, वे कितने आग्रह के साथ उसे ग्रहण करते हैं। मनुष्यमात्र में जो अविनाशी ईश्वरीय शक्ति है, वह जागृत हो जाती है और जो कुछ उत्तम है, जो कुछ महिमामय है, उसे ग्रहण करने के लिए हाथ फैला देती है।

जो हमारी समग्र जाति के स्रष्टा और स्थितिकर्ता हैं, हमारे पूर्वजों के ईश्वर हैं—भले ही वे विष्णु, शिव, शक्ति या गणेश आदि नामों से पुकारे जाते हों, सगुण या निर्गुण अथवा साकार या निराकार रूप से उपासित होते हों, जिन्हें हमारे पूर्वज जानकर 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' कह गये हैं, वे अपनी अनन्त प्रेम-शक्ति के साथ हममें प्रवेश करें, अपने शुभाशीर्वादों की हम पर वर्षा करें, हमें एक दूसरे को समझने की सामर्थ्य दें, जिससे हम यथार्थ प्रेम के साथ, सत्य के प्रति तीव्र अनुराग के साथ एक दूसरे के हित के लिए कार्य कर सकें, जिससे भारत के आध्यात्मिक पुनर्निर्माण के इस महत्कार्य में हमारे अन्दर अपने व्यक्तिगत नाम-यश, व्यक्तिगत स्वार्थ, व्यक्तिगत बड़प्पन की वासना के अंकुर न फूटें !

हिन्दू धर्म और उसका दर्शनशास्त्र

धार्मिक मतों का जो प्रथम वर्ग हमारे सम्मुख दिखायी पड़ता है—मेरा अर्थ यथार्थ धार्मिक मतों से है, न कि अत्यन्त निम्न श्रेणी के मतों से, जो 'धर्म'-संज्ञा के योग्य ही नहीं हैं—उन सभी में दैवी-स्फूर्ति तथा 'ईश्वर-निःश्वसित' आप्त-वाक्य आदि की कल्पना समाविष्ट है। धार्मिक मतों का प्रथम वर्ग ईश्वर की कल्पना से प्रारम्भ होता है। हमारे सम्मुख यह विश्व है और यह विश्व किसी व्यक्तिविशेष द्वारा निर्माण किया गया है। इस विश्व-ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, सभी उसी ईश्वर द्वारा रचा गया है। उसके साथ, आगे चलकर, आत्मा की कल्पना आती है कि यह शरीर है और इस शरीर के भीतर ऐसा कुछ है, जो शरीर नहीं है। हमारी जानकारी में धर्म की यही सब से आदिम कल्पना है। भारतवर्ष में हमें इसके कुछ थोड़े से अनुयायी मिल सकते हैं, परन्तु यह कल्पना बहुत पहले ही त्याग दी गयी। भारतीय धर्मों का प्रारम्भ बड़े विचित्र ढंग से हुआ है। बहुत सूक्ष्म छानबीन, विश्लेषण और अनुमान करने पर ही हम यह सोच सकते हैं कि भारतीय धर्मों की कभी वह अवस्था रही है। जिस प्रकट स्वरूप में हम उन्हें पाते हैं, वह तो दूसरी सीढ़ी है, प्रथम नहीं। सब से प्राथमिक अवस्था में सृष्टि की कल्पना बड़ी ही विचित्र है और वह यह है कि इस सम्पूर्ण विश्व की रचना ईश्वर की इच्छा से शून्य में से की गयी है; इस सृष्टि का अस्तित्व नहीं था और उस शून्य से ही यह सब निकला है। द्वितीय अवस्था में हम देखते हैं कि इस सिद्धान्त में शंका उठायी जा रही है। असत्

से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?* वेदान्त में सर्वप्रथम यही प्रश्न पूछा गया है। यदि यह विश्व सत्तात्मक है, तो वह किसी सद्वस्तु से ही निकला होगा; क्योंकि यह समझना सरल था कि सर्वत्र शून्य से तो शून्य ही निकलता है। मानवी हाथों से जो कुछ भी कर्म किया जाता है, उसके लिए उपादानों की आवश्यकता हुआ करती है। यदि गृह निर्माण हुआ है, तो पहले उसका उपादान विद्यमान था; यदि नाव बनी है, तो उसकी सामग्री पहले से विद्यमान थी; यदि कोई हथियार बनाये गये हैं, तो उनकी भी सामग्री पहले से ही थी। कार्य की उत्पत्ति इसी प्रकार हुआ करती है। अतः यह स्वाभाविक ही था कि शून्य में से इस ब्रह्माण्ड की रचना की प्राथमिक कल्पना त्याग दी गयी और जिस उपादान से यह विश्व गढ़ा गया है, उस उपादान के अनुसन्धान का प्रारम्भ हुआ। धर्म का समग्र इतिहास यथार्थ में इस उपादान-कारण की खोज ही है। किस उपादान से यह सब गढ़ा गया है ? निमित्त-कारण या ईश्वर के प्रश्न को अलग रखो, इस प्रश्न को अलग रखो कि ईश्वर ने विश्व की रचना की, सब से बड़ा प्रश्न तो यह है कि उस ईश्वर ने इसे किस उपादान से बनाया ? सभी दर्शन-शास्त्र मानो इसी प्रश्न पर निर्भर हैं।

इस समस्या का एक उत्तर यह है कि प्रकृति, ईश्वर और जीव ये तीनों अनादि और अनन्त सत्ताएँ हैं, वे मानो तीन नित्य समानान्तर रेखाएँ हैं, जिनमें से प्रकृति और जीव परतन्त्र हैं और ईश्वर स्वतन्त्र। प्रत्येक जीव जड़-परमाणु के समान ईश्वर की इच्छा पर पूर्णतया अवलम्बित है। अन्य विषयों का विचार करने के पूर्व हम जीव-सम्बन्धी विचार को ही लेंगे और इससे

* कथमसतः सत् जायेत इति ।— छान्दोग्य उपनिषद्, ६।२।२

यह देखेंगे कि सभी वैदान्तिक दर्शनशास्त्र पाश्चात्य-दर्शनों से किस प्रकार अत्यन्त पृथक् हैं। भारत के सभी दार्शनिकों का एक सामान्य मनस्तत्त्व रहा है। उनके दार्शनिक सिद्धान्त चाहे जो रहे हों, पर उन सब का मनस्तत्त्व वही रहा है, जो प्राचीन सांख्य-दर्शन का है। उसके अनुसार, ज्ञान की प्रक्रिया स्पन्दनों के अन्तः-संचार द्वारा होती है। ये स्पन्दन पहले बाह्य इन्द्रियों के पास आते हैं, बाह्य इन्द्रियों से वे अन्तरिन्द्रियों में पहुँचते हैं, अन्तरि-न्द्रियों से मन में, मन से बुद्धि में और वहाँ से उस वस्तु में जो एक इकाई है, जिसे वे आत्मा कहते हैं। आधुनिक शरीर-विज्ञान को लेने पर हम देखते हैं कि उसने सभी भिन्न-भिन्न संवेदनाओं के केन्द्रों का पता लगा दिया है। पहले वह निम्न श्रेणी के केन्द्रों का पता लगाता है, तत्पश्चात् उसे उच्च श्रेणी के केन्द्र प्राप्त होते हैं। ये दोनों केन्द्र भारतीय मनस्तत्त्व के अन्तरिन्द्रियों और मन से बिलकुल मिलते-जुलते हैं; पर अभी तक शरीर-विज्ञान को एक ऐसा केन्द्र नहीं मिला है, जो अन्य सभी केन्द्रों का नियमन करे। अतः वह यह नहीं बता सकता कि इन सभी केन्द्रों में एकसूत्रता कहाँ से आती है, कहाँ पर ये केन्द्र एक होते हैं। मस्तिष्क में सब केन्द्र अलग-अलग हैं और वहाँ कोई ऐसा एक केन्द्र नही है, जो अन्य केन्द्रों का नियमन करे। अतः जहाँ तक हिन्दू-मनोविज्ञानशास्त्र की गति है, इस विषय में उसका विरोध नहीं हुआ है। इस प्रकार की एकसूत्रता अवश्य होनी चाहिए, ऐसी एक सत्ता अवश्य रहनी चाहिए, जिसमें सभी विभिन्न संवेद-नाएँ प्रतिबिम्बित होंगी—केन्द्रित होंगी, जिससे कि ज्ञान पूर्ण रूप से निष्पन्न हो सके। जब तक इस प्रकार की कोई वस्तु न हो, तब तक मैं तुम्हारे विषय में, किसी चित्र या अन्य वस्तु के

सम्बन्ध में कोई कल्पना नहीं कर सकता। यदि एकसूत्रता लानेवाली वस्तु न हो, तो हम केवल देखेंगे ही, फिर कुछ समय के बाद केवल श्वास ही लेंगे, फिर केवल सुनेंगे, आदि-आदि; और जब मैं किसी मनुष्य को बोलते सुनूंगा, तब मैं उसे बिलकुल नहीं देखूंगा, क्योंकि सभी केन्द्र अलग-अलग हैं।

यह शरीर परमाणुओं से बना है, जिन्हें हम भौतिक पदार्थ कहते हैं, और वह जड़ और अचेतन है। उसी प्रकार जिसे वेदान्ती सूक्ष्म-शरीर कहते हैं, वह भी जड़ और अचेतन है। उनके मतानुसार यह सूक्ष्म-शरीर जड़ तो है, परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं से बना है--इतने सूक्ष्म कि वे किसी भी सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से नहीं दीख सकते। उसका कार्य क्या है? वह सूक्ष्म-शक्तियों का आधार है। जैसा कि यह स्थूल-शरीर स्थूल-शक्तियों का आधार है, वैसे ही सूक्ष्म-शरीर सूक्ष्म-शक्तियों का आधार है, जिन्हें हम 'विचार' कहते हैं। यह विचार-शक्ति विभिन्न रूपों में प्रकाशित होती रहती है। अतः, पहले तो यह शरीर है, जो स्थूल जड़-पदार्थ है और स्थूल शक्तिमय है। जड़-पदार्थ के बिना शक्ति नहीं रह सकती। उसके रहने के लिए जड़-पदार्थ चाहिए ही। इसीलिए स्थूलतर शक्तियाँ शरीर में काम करती हैं; और वे ही शक्तियाँ सूक्ष्मतर बन जाती हैं। जो शक्ति स्थूल रूप में काम कर रही है, वही सूक्ष्म रूप में कार्य करती है और तब विचार में परिणत हो जाती है। इनमें कोई भेद नहीं है, केवल इतना ही है कि एक उसी वस्तु का स्थूल और दूसरा सूक्ष्म रूप है। इस सूक्ष्म-शरीर और स्थूल-शरीर में भी कोई पार्थक्य नहीं है। सूक्ष्म-शरीर भी भौतिक है, केवल इतना ही कि वह अत्यन्त सूक्ष्म जड़-वस्तु है। जैसे यह स्थूल-शरीर स्थूल-शक्तियों के कार्य का साधन है, ठीक

उसी तरह सूक्ष्म-शक्तियों के कार्य का साधन यह सूक्ष्म-शरीर है।

अब प्रश्न यह है कि ये सब शक्तियाँ कहाँ से आती हैं? वेदान्त-दर्शन के अनुसार प्रकृति में दो सत्ताएँ हैं। एक 'आकाश' कहलाती है—वह पदार्थ है, अत्यन्त सूक्ष्म है; और दूसरी 'प्राण' कहलाती है—वह शक्ति है। जो कुछ भी हम देखते हैं, अनुभव करते हैं या सुनते हैं—जैसे वायु, पृथ्वी या और भी जो कुछ—वे सब के सब भौतिक पदार्थ हैं—इसी आकाश से उत्पन्न हुए हैं। यह आकाश प्राण की क्रिया से परिवर्तित होकर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर या स्थूल से स्थूलतर बनता रहता है। आकाश के समान प्राण भी सर्वव्यापी है और सभी वस्तुओं में ओत-प्रोत है। 'आकाश' मानो जल है और सृष्टि की अन्य सब वस्तुएँ उसी जल से बने हुए हिम-खण्डों के समान जल में तैर रही हैं। प्राण ही वह शक्ति है, जो इस आकाश को इन सभी विभिन्न रूपों में परिवर्तित करती है। स्थूल-शरीर आकाश से बना हुआ उपकरण है, जिसके द्वारा प्राण स्थूल रूपों में—जैसे स्नायुओं के संचालन, चलने, बैठने, बोलने आदि में—प्रकट होता है। सूक्ष्म शरीर भी आकाश से—अत्यन्त सूक्ष्म आकाश से बना है, जिसके द्वारा वही प्राण विचाररूपी सूक्ष्म-भाव में प्रकट होता है। अतः पहले तो यह स्थूल शरीर है, उसके परे यह सूक्ष्म या लिंग-शरीर है और उसके भी परे जीव, अर्थात् यथार्थ मनुष्य है। जैसे नख कई बार काटे जा सकते हैं और तो भी वे हमारे शरीर के भाग हैं, अलग नहीं, ठीक इसी प्रकार का सम्बन्ध स्थूल-शरीर और सूक्ष्म-शरीर का है। ऐसी बात नहीं है कि मनुष्य के एक सूक्ष्म-शरीर होता है और एक स्थूल-शरीर भी; शरीर तो एक ही है, पर जो अंश अधिक समय तक टिकता है, वह सूक्ष्म-शरीर है और जो शीघ्र

नष्ट हो जाता है, वह स्थूल है। जैसे मैं इस नख को अनेकों बार काट सकता हूँ, ठीक उसी तरह मैं लाखों बार इस स्थूल-शरीर का पात कर सकता हूँ, पर सूक्ष्म-शरीर बना ही रहेगा। द्वैतवादियों के मतानुसार, यह जीव या यथार्थ मनुष्य अत्यन्त सूक्ष्म, अणु है।

यहाँ तक हम देखते हैं कि मनुष्य ऐसा व्यक्ति है, जिसका पहले तो स्थूल-शरीर है जो अति शीघ्र नष्ट हो जाता है और तत्पश्चात् उसका सूक्ष्म-शरीर है जो युग-युगान्तरों तक बना रहता है और तत्पश्चात् जीव है। वेदान्त-मत के अनुसार यह जीव ठीक वैसा ही अनन्त है, जैसा कि ईश्वर। प्रकृति भी अनन्त है, पर वह परिवर्तनशील अनन्त सत्ता है। प्रकृति का उपादान—प्राण और आकाश—अनन्त है, पर उसका चिरकाल विभिन्न रूपों में परिवर्तन होता रहता है; किन्तु जीव आकाश से या प्राण से सृष्ट नहीं हुआ है। वह भौतिक-पदार्थ नहीं है और इसी कारण चिरकाल रहनेवाला है। वह प्राण और आकाश के किसी मिश्रण का परिणाम नहीं है; और जो मिश्रण का परिणाम नहीं है, वह कभी नष्ट नहीं किया जा सकता; क्योंकि कारण-स्वरूप को पुनः प्राप्त होना ही नाश है। स्थूल-शरीर आकाश और प्राण से बनी हुई सम्मिश्रित वस्तु है, अतः वह विघटित, नष्ट हो जायेगा। सूक्ष्म-शरीर भी दीर्घकाल के बाद नष्ट हो जायेगा। पर जीव तो अमिश्र-तत्त्व है और इसीलिए कभी नष्ट नहीं होगा। उसके कभी उत्पन्न न होने का भी यही कारण है। किसी अमिश्र-तत्त्व की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। वही युक्ति यहाँ भी लागू है। जो मिश्रवस्तु है, उसी की उत्पत्ति होती है। सम्पूर्ण प्रकृति, जिसमें लाखों और करोड़ों जीवात्माएँ हैं, ईश्वर की इच्छा के वशवर्ती हैं। ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वदर्शी, निराकार

विभु है और वह प्रकृति के माध्यम से नित्यक्रियाशील है। यह सम्पूर्ण प्रकृति उसी के वश में है। वही नित्य-विधाता है। द्वैत-वादियों का यही मत है। तब यह प्रश्न उठता है कि यदि इस सृष्टि का विधाता ईश्वर है, तो उसने इस प्रकार की दुष्ट सृष्टि की रचना क्यों की ? हमें इतना कष्ट क्यों भोगना पड़ता है ? वे कहते हैं, यह ईश्वर का अपराध नहीं है। हम अपने दोष के कारण कष्ट भोगते हैं। हम जो बोते हैं, वही लूते हैं। हमें दण्ड देने का उसका अभिप्राय नहीं है। मनुष्य दरिद्र, अन्धा या लूला-लँगड़ा होकर जन्म लेता है, इसका कारण क्या है ? कारण यह है कि इस प्रकार जन्म लेने के पूर्व उसने कुछ किया था। जीव नित्यकाल से विद्यमान रहता आया है, वह कभी उत्पन्न नहीं किया गया था। वह सर्वथा कई प्रकार के कर्म करता रहा है। हम जो कुछ करते हैं, उसकी प्रतिक्रिया हम पर होती हैं। यदि हम शुभ कर्म करते हैं तो हमें सुख मिलेगा और अशुभ कर्म करते हैं तो दुःख मिलेगा। इसी प्रकार जीव सुख और दुःख प्राप्त करता रहता है और भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म करता जाता है।

मृत्यु के उपरान्त क्या होता है ?सभी वेदान्तमतवादी स्वीकार करते हैं कि यह जीव स्वभावतः ही पवित्र है; परन्तु वे कहते हैं कि अज्ञान से इसका सच्चा स्वरूप ढका हुआ है। जिस प्रकार अशुभ कर्मों से इसने अपने को अज्ञान के आवरण में ढाँक लिया है, उसी प्रकार शुभ कर्मों द्वारा यह फिर से अपने असली स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है। वह सनातन है, स्वभावतः पवित्र है। प्रत्येक जीव स्वभावतः शुद्ध ही होता है। जब शुभ कर्मों द्वारा उसके सब पापों और दुष्कर्मों का नाश हो जाता है, तब जीव

पुनः शुद्ध हो जाता है और इस प्रकार शुद्ध होकर वह देवयान को चला जाता है। उसकी वचनेन्द्रिय मन में प्रविष्ट हो जाती है। आप शब्दों के बिना चिन्तन नहीं कर सकते। जहाँ चिन्तन है, वहाँ शब्द होने ही चाहिए। जैसे शब्द मन में प्रवेश करते हैं वैसे ही मन 'प्राण' में परिणत हो जाता है और 'प्राण' जीव में। तब जीव शीघ्र शरीर के बाहर निकलकर सौर-प्रदेश को चला जाता है। इस विश्व में एक के बाद दूसरे अनेक लोक हैं। यह पृथ्वी भूलोक है, जिसमें चन्द्र, सूर्य और तारागण हैं। उसके परे सूर्यलोक है और उसके उस पार दूसरा लोक है, जो चन्द्रलोक कहलाता है। उसके भी परे विद्युल्लोक है और जब जीव वहाँ पहुँचता है, तब एक दूसरा अमानव जीव, जो पहले ही पूर्ण हो गया है, उसका स्वागत करने आता है और उसे दूसरे लोक में, परमोच्च लोक में, जिसका नाम ब्रह्मलोक है, वहाँ ले जाता है। वहाँ जीव नित्यकाल निवास करता है और पुनः जन्म या मरण को प्राप्त नहीं होता। वहाँ वह अनन्त काल तक आनन्द भोगता है और केवल सृष्टि-उत्पादन शक्ति को छोड़कर शेष सब प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त करता है। विश्व का केवल एक ही विधाता है और वह है ईश्वर। कोई भी व्यक्ति ईश्वर नहीं बन सकता। द्वैतवादियों की धारणा है कि यदि तुम अपने को ईश्वर कहते हो, तो यह ईश्वर की घोर निन्दा है। सृजन करने की शक्ति के सिवाय अन्य सभी शक्तियाँ जीव को प्राप्त हो जाती हैं और यदि जीव शरीर धारण करके संसार के विभिन्न भागों में कार्य करना चाहे, तो कर सकता है। यदि वह जीव सभी देवताओं को अपने सम्मुख उपस्थित होने की आज्ञा दे, यदि वह अपने पूर्वजों को बुलाना चाहे, तो वे सभी उसकी आज्ञा के

अनुसार आ जाते हैं। उसकी शक्तियाँ ऐसी रहती हैं कि उसे अब कोई दु:ख नहीं होता और यदि वह चाहे तो अनन्तकाल ब्रह्मलोक में निवास कर सकता है। यही वह उच्चगति-प्राप्त पुरुष है, जो ईश्वर के प्रेम को प्राप्त कर चुका है, जो पूर्णत: नि:स्वार्थ, पूर्णत: शुद्ध बन गया है, जिसने अपनी समस्त वासनाओं का परित्याग कर दिया है और जो ईश्वर की पूजा और भक्ति के सिवाय और कुछ नहीं करना चाहता।

दूसरे लोग भी हैं, जो इतनी उच्च अवस्था को नहीं पहुँचे हैं; जो सत्कार्य करते हैं परन्तु बदले में कुछ पाना चाहते हैं। वे कहते हैं कि गरीबों को वे इतना दान करेंगे, पर बदले में वे स्वर्ग को जाना चाहते हैं। जब वे मरते हैं, तो उनकी कौनसी गति होती है? वाचा-शक्ति मन में प्रविष्ट हो जाती है, मन 'प्राण' में और 'प्राण' जीव में प्रवेश करता है। जीव निकलकर चन्द्रलोक को जाता है और वहाँ वह दीर्घकाल तक बहुत सुख में रहता है। जब तक उसके पुण्य कर्मों का प्रभाव बना रहता है, तब तक वहाँ वह सुख भोगता है; और जब पुण्य कर्मों का क्षय हो जाता है, तब वह पुनः नीचे उतरता है और इस पृथ्वी पर अपने कर्मों के अनुसार ज़न्म ग्रहण करता है। चन्द्रलोक में जीव उस अवस्था को प्राप्त करता है, जिसे हम 'देवता' कहते हैं तथा ईसाई और मुसलमान 'देवदूत'। ये देवता कुछ विशिष्ट पदों के नाम हैं। उदाहरणार्थ, देवराज 'इन्द्र' एक पद का नाम है; सहस्रों मनुष्य उस पद को प्राप्त करते हैं। जब कोई पुण्यशील पुरुष, जिसने सर्वश्रेष्ठ वैदिक कर्मों का अनुष्ठान किया है, मृत्यु को प्राप्त होता है, तब वह देवताओं का राजा बन जाता है। उस समय तक पुराना इन्द्र नीचे उतरकर मनुष्य बन गया रहता है। जैसे यहाँ

राजा बदलते रहते हैं, उसी प्रकार देवताओं को भी मरना पड़ता है। स्वर्ग में सभी मरेंगे। मृत्युरहित स्थान एक ब्रह्मलोक ही है, जहाँ न जन्म है न मृत्यु।

इस प्रकार जीव स्वर्ग को जाते हैं और वहाँ बड़े सुखपूर्वक रहते हैं। बीच-बीच में उन्हें असुरों से कष्ट मिलता है, जब असुर उन लोगों का पीछा करते हैं। हमारी पौराणिक कथाओं में ऐसे असुरों का वर्णन है, जो कभी कभी देवगणों को सताते हैं। हम पुराणों में पढ़ते हैं कि ये असुर और देव किस प्रकार लड़े, दैत्यों ने कभी कभी देवों पर विजय प्राप्त की। कई बार ऐसा दिखता है कि असुरों ने इतने क्रूर कर्म नहीं किये, जितने कि देवों ने। उदाहरणार्थ, सभी पुराणों में देवता स्त्री-लम्पट पाये जाते हैं। इस प्रकार जब उनके पुण्य का फल समाप्त हो जाता है, तब वे पुनः नीचे गिरते हैं। मेघों के मार्ग से वृष्टि के द्वारा आकर वे किसी अन्न या पौधे में प्रविष्ट हो जाते हैं और जब मनुष्य उस अन्न या पौधे को खाता है, तब उसके शरीर में पहुँच जाते हैं। पिता उन्हें वह भौतिक सामग्री देता है, जिसमें से वे अपने कर्मों के उपयुक्त शरीर धारण कर लें। जब वह शरीर उनके लायक नहीं रह जाता, तब उन्हें अपने लिए अन्य शरीर निर्माण करना पड़ता है। फिर, हम यहाँ बहुत से दुष्ट लोग देखते हैं, जो सभी तरह के राक्षसी कर्म करते हैं। वे फिर से पशु होकर जन्म लेते हैं; और यदि वे बहुत ही बुरे हैं, तो वे अति नीच पशु का जन्म लेते हैं या पेड़-पत्थर बन जाते हैं।

देव-योनि में वे कुछ भी कर्म नहीं करते; केवल मनुष्य-योनि ही कर्म-योनि है। कर्म का अर्थ है ऐसा काम, जिसका कोई फल हो। जब मनुष्य मरता है और देव बन जाता है, तब तो उसका

समय केवल सुख भोगने का ही रहता है और उस समय वह नये कर्म नहीं करता। वह तो उसके पूर्व-कृत शुभ कर्मों का पारितोषिक है; वह केवल भोग-योनि है। जब पुण्य कर्मों का क्षय हो जाता है, तब अवशिष्ट कर्मों का फल मिलना प्रारम्भ होता है और तब वह नीचे पृथ्वी पर उतरता है और पुनः मनुष्य बन जाता है। यदि वह बहुत अच्छे कर्म करता है और शुद्ध हो जाता ह, तो वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर पुनः यहाँ नहीं लौटता।

निम्न योनियों से विकास प्राप्त करते समय जीव कुछ काल तक पशु-योनि में रहता है, और समय पाकर पशु मनुष्य बन जाता है। यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि जैसे-जैसे मनुष्यों की संख्या बढ़ती जा रही है, वैसे-ही-वैसे पशुओं की घट रही है। पशु-आत्माएँ मनुष्य बन रही हैं। पशुओं के बहुतेरे वर्ग पहले ही मनुष्य बन चुके हैं; अन्यथा वे कहाँ चले गये?

वेदों में नरक की कोई चर्चा नहीं है। पर हमारे पुराणों में, हमारे अर्वाचीन धर्म-ग्रन्थों में, यह विचार आया कि नरकों का सम्बन्ध जोड़े बिना कोई धर्म सर्वांगीण नहीं हो सकता। अतः उन्होंने सभी प्रकार के नरकों की कल्पना की। इन नरकों में से कुछ में तो मनुष्यों को चीरकर उनके दो टुकड़े कर दिये जाते हैं और उन्हें कुचल-कुचलकर कष्ट दिया जाता है, तो भी वे नहीं मरते। वहाँ उनको लगातार अत्यन्त दुःख पहुँचाया जाता है। पर ये ग्रन्थ इतना कहने की दया तो करते हैं कि यह सब केवल कुछ काल के लिए ही रहता है। उस अवस्था में दुष्कर्मों का फल भोग लिया जाता है और भोग पूर्ण होने पर वे पुनः पृथ्वी पर आकर नया अवसर प्राप्त करते हैं। अतएव, यह मनुष्य-शरीर

एक महान् अवसर है। यह शरीर कर्मयोनि कहलाता है, जहाँ हम अपने भाग्य का निर्णय करते हैं। हम एक महान् वृत्त में दौड़ रहे हैं और उस वृत्त में यही एक बिन्दु है, जो हमारे भविष्य का निर्णायक है। अतः यह मनुष्य-शरीर ही सब से बढ़कर समझा जाता है; मनुष्य देवों से भी बढ़कर है।

यहाँ तक हुआ शुद्ध और सरल द्वैतवाद। इसके पश्चात् उच्चतर वैदान्तिक तत्त्वज्ञान सामने आता है। उसका कहना है कि ऐसा नहीं हो सकता। इस विश्व का उपादान-कारण तथा निमित्त-कारण दोनों ईश्वर ही है। यदि तुम कहते हो कि ईश्वर एक अनन्त व्यक्ति है, जीवात्मा भी अनन्त है और प्रकृति भी अनन्त है, तब तो तुम अनन्तों की संख्या अमर्याद बढ़ा रहे हो, जो एक बिलकुल असम्भव बात है; कारण, वह समस्त तर्कशास्त्र का विध्वंस करता है। अतः ईश्वर ही इस विश्व का उपादान तथा निमित्त दोनों प्रकार का कारण है, वह इस विश्व को अपने में से ही बाहर प्रकट करता है। तब यह कैसी बात है कि ईश्वर ही ये दीवालें और यह मेज बन गया है; ईश्वर ही शूकर, हत्यारा और जो कुछ इस संसार में नीच तथा क्षुद्र वस्तुएँ हैं, वह सब बन गया है? हम कहते हैं कि ईश्वर पवित्र है। तब भला वह ये सब हीन और नीच वस्तुएँ कैसे बन सकता है? हमारा उत्तर यह है कि ठीक वैसे ही, जैसे मैं एक आत्मा हूँ और मेरे एक शरीर है; और एक दृष्टि से यह शरीर मुझसे भिन्न नहीं है, तो भी मैं—सच्चा मैं—यथार्थ में शरीर नहीं हूँ। उदाहरणार्थ, मैं कहता हूँ—मैं बालक हूँ, युवक हूँ, या वृद्ध हूँ, पर मेरी आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। आत्मा तो वही बनी रहती है। उसी प्रकार यह समस्त विश्व अपने अन्तर्भुक्त

समग्र प्रकृति और असंख्य आत्माओं के साथ मानो ईश्वर का अनन्त शरीर है। वह इस सम्पूर्ण विश्व में ओत-प्रोत है। अकेला वही अपरिवर्तनशील है, पर प्रकृति तो बदलती रहती है और आत्माएँ भी। प्रकृति और जीवात्मा के परिवर्तन का उस ईश्वर पर कोई परिणाम नहीं होता। प्रकृति किस प्रकार बदलती है? अपने रूपों में; वह नये-नये रूप धारण करती है। पर आत्मा उस तरह नहीं बदलती। आत्मा ज्ञान की न्यूनाधिकता से ही घटती और बढ़ती है। दुष्कर्मों से आत्मा संकुचित हो जाती है। ऐसे कर्म जो आत्मा के यथार्थ स्वाभाविक ज्ञान तथा पवित्रता को घटाते हैं, दुष्कर्म कहे जाते हैं। और वे कर्म जो आत्मा की स्वाभाविक महिमा को प्रकट करते हैं; सत्कर्म कहे जाते हैं। ये सभी आत्माएँ शुद्ध थीं, पर वे संकुचित हो गयी हैं; ईश्वर की दया से और सत्कर्म करने से वे पुनः विकसित होकर अपनी सहज शुद्धता को प्राप्त कर लेंगी। हरएक को समान अवसर प्राप्त है और अन्त में प्रत्येक का उद्धार होना निश्चित है। पर इस विश्व का अन्त नहीं होगा; क्योंकि वह तो सनातन है। यह दूसरा मत है। पहला मत द्वैतवाद कहा जाता है। दूसरे मत में यह धारणा है कि ईश्वर, आत्मा और प्रकृति ये तीनों हैं, तथा आत्मा और प्रकृति ईश्वर के शरीर हैं और इसलिए ये तीनों मिलकर एक इकाई का निर्माण करते हैं। यह दूसरा मत आध्यात्मिक विकास की उच्चतर अवस्था सूचित करता है और इसका नाम है, 'विशिष्टाद्वैत'। द्वैतवाद में विश्व ईश्वर-संचालित एक बड़ा यन्त्र माना गया है और विशिष्टाद्वैत में वह एक ऐसा शरीर माना गया है, जिसमें परमात्मा ओत-प्रोत है।

सब से अन्त में अद्वैतवादी हैं। वे भी यह प्रश्न उठाते हैं कि

ईश्वर ही इस विश्व का उपादान तथा निमित्त दोनों कारण होना चाहिए। इस तरह, ईश्वर ही यह सम्पूर्ण विश्व बन गया है, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर जब ये दूसरे लोग कहते हैं कि ईश्वर आत्मा है और विश्व उसका शरीर, तथा यह शरीर परिवर्तनशील है पर ईश्वर में परिवर्तन नहीं होता, तो ये सब बातें अद्वैतवादी के मत में निरी अज्ञता है। कारण, यदि वैसा ही हो, तो फिर ईश्वर को इस विश्व का उपादान-कारण कहने का क्या अर्थ है? कार्य-रूप धारण करनेवाला कारण ही उपादान-कारण है; कार्य और कुछ नहीं वरन् कारण का ही दूसरा रूप है। जहाँ कहीं तुम्हें कार्य दिखायी देता है, वह कारण की ही पुनरावृत्ति है। अतः यदि यह विश्व कार्य है और ईश्वर कारण, तो विश्व को ईश्वर की ही पुनरावृत्ति होना चाहिए। यदि तुम कहो कि विश्व ईश्वर का शरीर है और यह शरीर संकुचित एवं सूक्ष्म होकर कारण बन जाता है तथा उसी में से इसी विश्व का विकास होता है, तो इस पर अद्वैतवादी कहते हैं कि स्वयं ईश्वर ही यह विश्व बन गया है। अब यहाँ एक बहुत सूक्ष्म प्रश्न उठता है। यदि यह ईश्वर ही यह विश्व बन गया है, तो तुम और ये सभी चीजें ईश्वर ही हैं? हाँ, यथार्थ में वैसा ही है। यह पुस्तक ईश्वर है, प्रत्येक वस्तु ईश्वर है। मेरा शरीर ईश्वर है, मेरा मन ईश्वर है, और मेरी आत्मा भी ईश्वर है। तब फिर जीवों का यह नानात्व क्यों है? क्या ईश्वर करोड़ों जीवों में बँट गया है? क्या वह एक ईश्वर करोड़ों जीवों में परिणत हो जाता है? तब यह फिर कैसे हुआ? वह अनन्त शक्ति और सत्ता, वह एकमेव विश्वात्मा विभाजित कैसे हो गयी? अनन्त के खण्ड करना असम्भव है। वह विशुद्ध चिदात्मा इस

विश्व में कैसे परिणत हो सकती है? और यदि वह विश्व में परिणत हुआ है, तब तो वह परिवर्तनशील है। यदि वह परिवर्तनशील है, तो वह प्रकृति का अंश है; और जो कुछ भी प्रकृति है, परिवर्तनशील है, वह तो जन्म लेता और मरता है। यदि हमारा ईश्वर परिवर्तनशील है, तो वह एक दिन अवश्य मरेगा। इस बात को ध्यान में रखो। पुनश्च, ईश्वर का कितना अंश यह विश्व बन गया है? यदि तुम कहो 'क' (बीजगणित का अज्ञात-परिमाण), तब तो ईश्वर अब 'ईश्वर ऋण क' है और इसलिए वह वही ईश्वर नहीं है, जैसा कि इस सृष्टि के पूर्व था, क्योंकि उतना ईश्वर यह सृष्टि बन गया है।

अतः अद्वैतवादी कहते हैं, "इस विश्व का कोई निरपेक्ष अस्तित्व ही नहीं है; यह सब माया, मिथ्या है। यह सम्पूर्ण विश्व, ये देवगण, ये देवदूत, जन्म और मरण के चक्र में पड़े हुए ये सारे प्राणी तथा उन्नत और अवनत होते हुए ये असंख्य जीवात्माएँ---सभी के सभी स्वप्नमय हैं।" 'जीव' नामक कोई वस्तु है ही नहीं। नानात्व भला कैसे हो सकता है? है केवल एक अद्वितीय अनन्त सत्ता ही। जैसे एक ही सूर्य विभिन्न जलाशयों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक भासता है और जल के करोड़ों बुलबुले करोड़ों सूर्य के प्रतिबिम्ब प्रकट करते हैं तथा प्रत्येक बुलबुले में सूर्य का पूर्ण प्रतिबिम्ब रहता है तथापि वास्तव में सूर्य तो एक ही है, उसी प्रकार ये सब जीव भिन्न-भिन्न मनों में प्रतिबिम्ब ही हैं। ये विभिन्न मन अनेक बुलबुलों के समान उसी एक आत्मा को प्रतिबिम्बित करते हैं। ईश्वर ही इन सब भिन्न-भिन्न जीवों में प्रतिबिम्बित हो रहा है। स्वप्न किसी सत्यवस्तु के बिना नहीं हो सकता और वह अनन्त सत्ता ही वह

सत्यवस्तु है। तुम शरीर, मन या जीवात्मा के रूप में स्वप्नमय हो, तुम्हारा यथार्थ स्वरूप तो वही सत्, चित् और आनन्द का है। तुम्हीं इस विश्व के ईश्वर हो। तुम्हीं सम्पूर्ण विश्व को प्रकट कर रहे हो और अपने में लय कर रहे हो। अद्वैतवादियों का यही सिद्धान्त है। अतः ये सब जन्म और पुनर्जन्म, आना और जाना, सभी माया के दृश्य हैं। तुम तो अनन्त हो। तुम भला कहाँ जा सकते हो? सूर्य, चन्द्र और समस्त विश्व तुम्हारे इन्द्रियातीत स्वरूपसागर में बिन्दुमात्र हैं। तुम्हारा जन्म और मरण कैसे हो सकता है? मैंने कभी जन्म नहीं लिया, न कभी लूंगा। मेरे न कभी पिता थे, न माता ही, न मित्र, न शत्रु; क्योंकि मैं तो सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप हूँ। सोऽहम् सोऽहम्।

तब इस दार्शनिक मत के अनुसार अन्तिम ध्येय क्या है? यही कि, जो यह ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे विश्व के साथ एक हो जाते हैं। उनके लिए समस्त स्वर्ग, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक भी विनष्ट हो जाता है, सारा स्वप्न दूर हो जाता है और वे अपने को विश्व का अनादि-अनन्त ईश्वर पाते हैं। वे अपने अनन्त ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप यथार्थ व्यक्तित्व की प्राप्ति कर लेते हैं और मुक्त हो जाते हैं। क्षुद्र वस्तुओं में सुख-भोग की इच्छा का अंन्त आ जाता है। हम आज इस छोटे से शरीर और क्षुद्र व्यक्तित्व में ही आनन्द मानते हैं, तब वह आनन्द कितना अधिक न होगा, जब यह समस्त विश्व मेरा शरीर हो जायेगा! यदि एक शरीर में सुख है, तो जब सभी शरीर मेरे हैं, तब कितना अधिक सुख न होगा! तभी मुक्ति प्राप्त होती है। यही अद्वैत-वेदान्त का चरम सिद्धान्त है।

वेदान्त दर्शन-शास्त्र ने ये ही तीन श्रेणियाँ निर्धारित की हैं

और हम उससे आगे नहीं बढ़ सकते; क्योंकि हम एकत्व के परे कैसे जा सकते हैं? जब कोई विज्ञान-शास्त्र एकत्व तक पहुँच जाता है, तब वह किसी भी उपाय से और आगे नहीं बढ़ सकता। इस निरपेक्ष सत्ता या तुरीय के परे तुम नहीं जा सकते।

इस अद्वैत-दर्शनशास्त्र को सभी मनुष्य ग्रहण नहीं कर सकते। वह अत्यन्त सूक्ष्म है। सब से पहले तो वह बुद्धि द्वारा समझने के लिए बहुत कठिन है। उसके लिए अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि चाहिए, साहस चाहिए। दूसरी बात यह है कि वह अधिकांश जनसमुदाय के अनुकूल नहीं है। इसीलिए ये तीन श्रेणियाँ हैं। प्रथम श्रेणी से आरम्भ करो। उसको अच्छी तरह सोच-विचारकर समझ लेने पर द्वितीय श्रेणी आप से आप खुल जायेगी। जैसे एक जाति आगे बढ़ती है, वैसे ही व्यक्ति को भी आगे बढ़ना पड़ता है। धार्मिक विचार के अत्युच्च शिखरों तक पहुँचने में मानव-जाति ने जिस क्रम को ग्रहण किया है, वही क्रम प्रत्येक व्यक्ति को ग्रहण करना होगा। अन्तर यही है कि जहाँ मानव-जाति को एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी पहुँचने के लिए लाखों वर्ष लगे हैं, वहाँ एक व्यक्ति मानव-जाति का समग्र जीवन अपेक्षाकृत बहुत स्वल्प अवधि में व्यतीत कर लेगा। परन्तु हममें से प्रत्येक को इन श्रेणियों में से होकर जाना होगा। आपमें से जो अद्वैतवादी हैं, वे अपने जीवन के उस काल की ओर लौटकर देखें जब आप कट्टर द्वैतवादी थे। ज्यों ही आप सोचते हैं कि आप शरीर और मन हैं, त्यों ही आपको यह सम्पूर्ण स्वप्न ग्रहण करना होगा। यदि आप उसके एक अंश को ग्रहण करते हैं तो आपको उसे सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करना होगा। जो मनुष्य कहता है कि देखो, यह संसार है, पर ईश्वर (सगुण) नहीं है, वह मूर्ख है; क्योंकि

यदि सृष्टि है, तो उसका कारण तो रहेगा ही, और वही कारण 'ईश्वर' कहलाता है। कारण को बिना जाने तुम्हें कोई कार्य नहीं मिल सकता। ईश्वर तभी विलुप्त हो सकता है, जब इस संसार का लोप हो जाय। तब तुम ईश्वर (निर्गुण) हो जाओगे और तुम्हारे लिए यह संसार न रह जायेगा। जब तक 'मैं शरीर हूँ' ऐसा स्वप्न तुममें बना हुआ है, तब तक तुम अपने को जन्म लेनेवाला और मरनेवाला ही पाओगे। पर ज्यों ही वह स्वप्न भंग हो जायेगा, त्यों ही यह स्वप्न भी भंग हो जायेगा कि तुम जन्म लेते हो और मरते हो, और साथ ही यह स्वप्न भी कि इस विश्व का अस्तित्व है। वही वस्तु जो आज हमें विश्व के रूप में दीख रही है, ईश्वर (परब्रह्म) दिखायी देगी और वही ईश्वर जो इतने दीर्घकाल तक बाहर प्रतीत होता था, अब अन्तःस्थ, अपनी स्वयं आत्मा ही प्रतीत होगा।

हिन्दू धर्म और उसके चार योग

मानव-जाति के अधिक-से-अधिक अंश को सन्तुष्ट करने के लिए धर्म का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि वह विभिन्न प्रकार के मनों को खाद्य-सामग्री प्रदान कर सके। जिन धर्म-मतों में ऐसी योग्यता का अभाव रहता है, वे एकदेशीय हो जाते हैं। मान लीजिये, आप एक ऐसे पन्थवाले के पास गये, जिसमें प्रेम और भावना-शक्ति का उपदेश दिया जाता है। वे गाते हैं, रोते हैं और प्रेम का उपदेश देते हैं। पर ज्यों ही आप कहते हैं, "मित्रवर, यह सब तो ठीक है; पर मुझे तो इससे कोई अधिक प्रबल वस्तु चाहिए; मुझे कुछ तर्क और तत्त्वज्ञान की आवश्यकता है; मैं तो सब बातों को क्रम से और कुछ युक्तिपूर्वक समझना चाहता हूँ," तो वे कहते हैं, "निकल जाओ!" और वे आपको केवल चले जाने के लिए ही न कहेंगे, प्रत्युत यदि उनके वश की बात हुई, तो आपको दूसरी जगह भेज देंगे। परिणाम यह होता है कि वह पन्थ केवल भावनाप्रधान लोगों को ही सहायता दे सकता है। शेष दूसरों को सहायता देना तो दूर रहे, वे लोग उन्हें नष्ट कर देने का प्रयत्न करते हैं। सब से बढ़कर दुष्टता तो यह है कि वे दूसरों को सहायता तो देंगे ही नहीं, पर साथ ही उनकी आन्तरिकता में भी विश्वास नहीं करेंगे। फिर, ऐसे तत्त्वज्ञानी लोग हैं, जो भारत और प्राच्य के ज्ञान का बखान करते हैं और लम्बे-लम्बे पचास-पचास अक्षरों के दार्शनिक शब्दों का उपयोग करते हैं। मेरे-जैसा साधारण व्यक्ति यदि जाकर उनसे पूछे, "क्या आप मुझे आध्यात्मिक बनने का कोई उपाय बता सकते हैं?"

तो सब से पहले वे तो मुसकरायेंगे और कहेंगे, "तुम हमसे बुद्धि में बहुत कम हो; तुम आध्यात्मिकता के विषय में भला क्या समझोगे ?" ये लोग बहुत 'ऊँचे तत्त्वज्ञानी' हैं ! ये आपको केवल दरवाजा दिखाते हैं। पुनः, कई रहस्यवादी योग-सम्प्रदाय हैं, जो जीवन के विभिन्न स्तरों (Planes) के सम्बन्ध में, मन की नाना अवस्थाओं तथा शक्तियों के सम्बन्ध में बहुतेरी बातें बताते हैं। मुझ जैसा साधारण मनुष्य यदि उनसे पूछता है, "कोई अच्छा काम बताइये, जिसे मैं कर सकूँ। मुझे सूक्ष्म विचार-बुद्धि विशेष पसन्द नहीं है। क्या आप मुझे ऐसा कुछ दे सकते हैं जो मेरे स्वभाव के अनुरूप हो ?" तो वे हँसकर कहेंगे, "सुनो इस मूर्ख की बात; यह कुछ नहीं जानता; इसका जीवन व्यर्थ है।" और यही बात संसार में सर्वत्र चल रही है। मेरे मन में तो यही है कि इन सभी विभिन्न पन्थों के कट्टर उपदेशकों को एकत्र करके एक कोठरी में बन्द कर दूँ और उनकी सुन्दर तिरस्कारयुक्त हँसी का छायाचित्र उतार लूँ !

धर्म की वर्तमान अवस्था, प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति ऐसी ही है। मैं जिस धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ, वह ऐसा है जिसे सभी प्रकार के मन समान रूप से ग्रहण कर सकें, वह जितना दार्शनिक हो, उतना ही भावना की भी पुष्टि करे, समान रूप से योग पर जोर दे और उतना ही कर्म के लिए प्रेरणा देनेवाला हो। यदि कालेज के अध्यापकगण, वैज्ञानिक और भौतिक-शास्त्रवेत्ता पहुँचेंगे, तो वे तो बुद्धिवाद चाहेंगे। जी भरकर उन्हें वही लेने दो। एक ऐसी अवस्था आयेगी, जब वे सोचेंगे कि वे उसके परे, बुद्धि के बाँध को तोड़े बिना, नहीं जा सकते। वे कहेंगे, "ईश्वर और मुक्ति सम्बन्धी ये विचार मिथ्याकल्पनाएँ हैं; इन्हें छोड़ो!"

मैं कहता हूँ, "दर्शनशास्त्रीजी, आपका यह शरीर तो उससे बढ़कर मिथ्या-कल्पना है, आप उसको छोड़िये। भोजन के लिए घर जाना या दर्शनशास्त्र पढ़ाने जाना बन्द कर दीजिये। शरीर को त्याग दीजिये और यदि वैसा नहीं कर सकते, तो चिंल्लाना छोड़कर चुपचाप बैठ जाइये।" कारण, धर्म तो वह है, जो हमें यह दिखा सके कि हम उस तत्त्वज्ञान की उपलब्धि किस प्रकार कर सकते हैं, जो हमें सिखाता है कि यह विश्व एक है और इस जगत् में केवल एक ही सत्ता है। इसी प्रकार जब राजयोगी आये, तब उसका भी हमें स्वागत करना चाहिए। उसे मनोविश्लेषण-शास्त्र का पाठ पढ़ाने के लिए और उसके सामने तदनुसार प्रत्यक्ष प्रयोग करके दिखाने के लिए हमें तैयार रहना चाहिए। यदि भावना-प्रधान मनुष्य आये तो हमें उसके साथ बैठकर ईश्वर का नाम लेते हुए हँसना और रोना चाहिए और "प्रेम का प्याला पीकर पागल बन जाना चाहिए।" यदि उत्साही कार्यकर्ता आ जाय, तो हमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर उसके साथ कर्म करना चाहिए। इस प्रकार के सम्मिलित योग द्वारा हम सार्वभौमिक धर्म के आदर्श के अत्यन्त निकट पहुँच जायेंगे। ईश्वर करे, प्रत्येक मनुष्य की गठन ऐसी हो कि उसके चित्त में ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म के भाव समान रूप से पूर्ण मात्रा में वर्तमान रहें। यही आदर्श है। पूर्ण मनुष्य का मेरा आदर्श यही है। जिसके स्वभाव में इनमें से केवल एक या दो ही भाव विद्यमान हों, उसे मैं 'एकांगी' समझता हूँ; और संसार प्रायः ऐसे ही एकांगी व्यक्तियों से भरा है। वे जिस मार्ग में चलते हैं, उन्हें बस उसी एक मार्ग का ज्ञान है और अन्य मार्गों को वे भयंकर और बीभत्स समझते हैं। इन चारों मार्गों का

समतोल समन्वय हो जाय—यही धर्म 'मेरा' आदर्श है और इस धर्म की प्राप्ति, हम भारतीयों के शब्दों मे, 'योग' के द्वारा होती है। कर्मी के लिए इस 'योग' का अर्थ है व्यष्टि और समष्टि मानवता की एकता या अभेद। राजयोगी के लिए 'योग' का अर्थ है जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता या अभेद। भक्त के लिए अपने और अपने प्रेमास्पद भगवान् के बीच अभिन्नता ही 'योग' है; और ज्ञानी के लिए 'योग' का अर्थ है यावत्-अस्तित्व का ऐक्य। 'योग' का यही अर्थ है। 'योग' संस्कृत शब्द है और इसके इन चार विभागों के संस्कृत में भिन्न-भिन्न नाम हैं। इस प्रकार के एकत्व के लिए प्रयत्नशील मनुष्य 'योगी' कहलाता है। कर्म करनेवाला कर्मयोगी कहलाता है। प्रेम के मार्ग से जो योग प्राप्त करना चाहता है, वह भक्तियोगी है; राजयोग से जो उसे खोजता है, वह राजयोगी है; और जो ज्ञानमार्ग से उसका अनुसन्धान करता है, वह ज्ञानयोगी कहलाता है। इस प्रकार 'योगी' शब्द में इन सभी का समावेश होता है।

अब मैं सब से पहले राजयोग को लेता हूँ। यह राजयोग—मन का यह संयमन क्या है? आपके इस देश में 'योग' शब्द के साथ सभी प्रकार के भूत-प्रेतों की बातें सम्बद्ध कर दी जाती हैं। अतः मैं सब से पहले यही बता देना उचित समझता हूँ कि योग से और इन बातों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन चार योगों में से एक में भी युक्ति-विचार का त्याग नहीं करना पड़ता। इनमें से कोई भी यह नहीं चाहता कि तुम्हें कोई ठग ले अथवा तुम अपनी तर्कशक्ति को किसी पण्डे-पुरोहित को सौंप दो। इनमें से एक भी यह नहीं सिखाता कि तुम किसी अलौकिक देवदूत में विश्वास कर उसके भक्त बन जाओ। इनमें से प्रत्येक

तुम्हें विचार-बुद्धि को दृढ़ता के साथ पकड़े रहने की शिक्षा देता है। हम प्रत्येक प्राणी में ज्ञान के तीन साधन पाते हैं। प्रथम है सहज-प्रेरणा, जो पशुओं में सब से अधिक बढ़ी हुई रहती है, यह ज्ञान का अत्यन्त निम्न श्रेणी का साधन है। ज्ञान का द्वितीय साधन क्या है? वह है युक्ति-विचार। वह मनुष्य में सब से अधिक विकसित मिलेगा। सहज-प्रेरणा एक अपर्याप्त साधन है। पशुओं का कार्यक्षेत्र बहुत मर्यादित हुआ करता है और उसी मर्यादा के भीतर यह सहज-प्रवृत्ति काम करती है। जब हम मनुष्य की ओर आते हैं, तो हम बड़ी मात्रा में उसे युक्ति-विचार में विकसित हुई पाते हैं। कार्य का क्षेत्र भी यहाँ विस्तृत हो गया है। तथापि युक्ति-विचार भी अत्यन्त अपर्याप्त है। वह केवल थोड़ी दूर तक जाकर वहीं ठहर जाता है और आगे नहीं बढ़ सकता। यदि हम उसे ढकेलने का प्रयत्न करें, तो असहाय विभ्रान्ति की स्थिति हो जाती है और तर्क स्वविरुद्ध हो जाता है, तर्क-युक्तियाँ स्वयं चक्कर खाने लगती हैं। उदाहरण के लिए हमारे अनुभव के मुख्य आधार जड़ और शक्ति को ही ले लीजिये। जड़ क्या है?—वह, जिस पर शक्ति अपना कार्य करती है। और शक्ति क्या है?—वह, जो जड़ पर कार्य करती है। देखी आपने उलझन! इसे ही नैयायिक 'अन्योन्याश्रय' कहते हैं। एक विचार दूसरे पर अवलम्बित है और यह दूसरा विचार पुनः प्रथम विचार पर ही अवलम्बित है। तर्कशक्ति के सामने बड़ी जबरदस्त रुकावट आ जाती है, जिसके उस पार वह नहीं जा सकती; फिर भी वह उसके परे, अनन्त के प्रदेश में प्रवेश करने के लिए आतुर है। यह जगत्, यह विश्व, जिसका अनुभव हमारी इन्द्रियाँ करती हैं या जिसके विषय में हमारा मन विचार करता है, मानो उस

अनन्त का केवल एक अणु मात्र है जो हमारी संज्ञा पर प्रतिफलित हुआ है; और उस संकीर्ण मर्यादा के भीतर ही, संज्ञारूप जाल से घिरे हुए इस सीमावद्ध विश्व-जगत् में ही हमारा युक्ति-विचार या बुद्धि काम करती है, उसके परे कदापि नहीं। अतः हमें उस मर्यादा के परे ले जानेवाला कोई दूसरा साधन होना चाहिए और यह साधन अतीन्द्रिय-बोध (Intuition) कहलाता है। इस प्रकार सहज-प्रवृत्ति, युक्तिविचार और अतीन्द्रिय-बोध ये तीन ही ज्ञान के साधन हैं। स्वाभाविक प्रवृत्ति तो पशुओं का साधन है, युक्ति-विचार मनुष्यों का और अतीन्द्रिय-वोध देव-मानवों का। पर सभी मनुष्यों में अधिक या अल्प विकसित अवस्था में इन तीनों ज्ञान-साधनों के अंकुर पाये ही जाते हैं। इन मानसिक साधनों के सुविकसित होने के लिए इनके अंकुर तो वहाँ होने ही चाहिए। साथ ही यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि एक साधन दूसरे साधन का विकसित रूप है और इसी कारण वे एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। युक्ति-विचार विकसित होकर अतीन्द्रिय-बोध बनता है और इसीलिए अतीन्द्रिय-बोध युक्ति-विचार का विरोध नहीं करता, वरन् उसे पूर्ण करता है। जिन सत्यों तक बुद्धि नहीं पहुँच पाती, वे अतीन्द्रिय-बोध से प्रकाशित या प्रकट होते हैं और वे बुद्धि का विरोध नहीं करते। वृद्धावस्था बाल्यावस्था का विरोध नहीं करती, वह तो उसे पूर्ण बनाती है। अतः सदा ध्यान रखिये कि निम्न श्रेणी के साधन को भूल से उच्च श्रेणी का साधन मान लेने में बड़ा खतरा है। वहुधा सहज-प्रवृत्ति अतीन्द्रिय बोध के नाम से संसार के सामने ला दी जाती है और उससे भविष्यवाणी करने के झूठे दावों का जन्म होता है। कोई मूर्ख या अर्धविक्षिप्त सोचता है

कि उसके मस्तिष्क में होनेवाली गड़बड़ी अतीन्द्रिय-अनुभव है और यह चाहता है कि लोग उसका अनुसरण करें। अत्यन्त परस्पर-विरोधी, तर्कहीन निरर्थक बातें, जिनका उपदेश संसार में दिया गया है, केवल पागलों के विभ्रान्त मस्तिष्क से निकले हुए प्रलाप मात्र हैं, जिन्हें अतीन्द्रिय-अनुभव का नाम देकर प्रचलित करने का प्रयत्न किया जाता है।

सच्चे उपदेश की पहली कसौटी यह है कि वह उपदेश युक्ति-विचार के विपरीत न हो। आप देख सकते हैं कि इन सभी योगों का आधार उसी प्रकार का है। हम राजयोग को लें। यह मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाला योग है। यह परमात्मा से संयोग प्राप्त करने का मनोवैज्ञानिक मार्ग है। यह विस्तृत विषय है और मैं आपके सम्मुख यहाँ इस योग के केन्द्रीय विचार की ओर ही निर्देश कर सकता हूँ। हमारे पास ज्ञानप्राप्ति की केवल एक ही रीति है। अति सामान्य मनुष्य से लेकर परमोच्च योगी तक सभी को उसी उपाय का अवलम्बन करना पड़ता है। उस उपाय को 'एकाग्रता' कहते हैं। अपनी प्रयोगशाला में काम करनेवाला रसायनशास्त्री अपने मन की सभी शक्तियों को एकाग्र करता है, उन्हें एक केन्द्र में लाता है और मूल द्रव्यों पर प्रक्षेप करता है; और तब तो उन द्रव्यों का विश्लेषण हो जाता है और इस प्रकार उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्योतिषशास्त्री ने भी अपने मन की शक्तियों को एकाग्र किया है, उन्हें एक केन्द्र में लाया है और वह उन्हें अपने दूरबीन के द्वारा अपने ध्येय-वस्तुओं की ओर प्रयुक्त करता है; और तब तो तारागण और सौर-मण्डल सामने आते है और अपना रहस्य उसके पास प्रकट कर देते हैं। ऐसा ही सर्वत्र होता है। अपनी गद्दी पर विराजमान अध्यापक, हाथ

में पुस्तक लिये हुए विद्यार्थी तथा ज्ञानपिपासु प्रत्येक मनुष्य को ज्ञानप्राप्ति के लिए ऐसा ही करना पड़ता है। आप मेरी बात सुन रहे हैं और यदि मेरे शब्द आपको रुचिकर हैं तो आपका मन उन शब्दों में एकाग्र हो जायेगा; उस समय यदि घड़ी का घण्टा भी बजा, तो आप उसकी आवाज को इस मनोयोग के कारण न सुन पायेंगे। और जितना ही आप अपने मन को एकाग्र कर सकेंगे, उतनी ही अच्छी तरह मेरी बातों को समझ सकेंगे। जितना ही मैं अपने प्रेम और शक्तियों को एकाग्र करूँगा, उतने ही सुन्दर ढंग से मैं आपको अपना वक्तव्य समझा सकूँगा। एकाग्रता की यह शक्ति जितनी अधिक होगी, उतने ही अधिक ज्ञान की प्राप्ति होगी; क्योंकि ज्ञानप्राप्ति का यही एकमात्र उपाय है। अत्यन्त नीच मोची भी यदि काम में अधिक एकाग्रता लाये, तो वह जूतों को और अच्छा पालिश कर सकता है; रसोइया अपने काम में एकाग्रता लाने से और भी अच्छी तरह रसोई पका सकता है। धन कमाने में, ईश्वर की पूजा करने में या और कोई काम करने में एकाग्रता की शक्ति जितनी प्रबलतर होगी, उतने ही उत्तम रूप से वह कार्य सम्पन्न होगा। यही एक पुकार है, यही एक खटखटाहट है, जो प्रकृति के दरवाजों को खोलती है और प्रकाश की बाढ़ को बाहर ला देती है। यह एकाग्रता की शक्ति ही ज्ञान के कोषगृह की एकमात्र कुंजी है। राजयोग की प्रणाली इसी का वर्णन करती है। अपने शरीर की वर्तमान स्थिति में हम इतने अस्थिरचित्त हैं कि मन अपनी शक्तियों को सैकड़ों प्रकार की वस्तुओं में व्यर्थ खो रहा है। ज्यों ही मैं अपने विचारों को शान्त करने और मन को ज्ञान के किसी एक विषय पर एकाग्र करने का प्रयत्न करता हूँ, त्यों

ही मेरे मस्तिष्क में सहस्रों अनिष्ट आवेग घुस पड़ते हैं, मन में सहस्रों विचार प्रविष्ट होने लगते हैं और उनमें गड़बड़ मचा देते हैं। इस बात को कैसे रोकना चाहिए और मन को किस प्रकार वश में करना चाहिए इसी विषय की सम्पूर्ण शिक्षा राजयोग में दी गयी है।

अब कर्मयोग को लीजिये, जिसमें कर्म के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति की जाती है। यह तो स्पष्ट है कि समाज में कई मनुष्य ऐसे रहते हैं, जिन्होंने मानो किसी-न-किसी प्रकार के कर्म करने के लिए ही जन्म लिया है। उनका मन केवल विचार-राज्य में ही एकाग्र होकर नहीं रह सकता—वे तो केवल ठोस कार्य को ही समझ सकते हैं जो आँखों से देखा जा सकता है और हाथों से किया। इस प्रकार के जीवन के लिए भी एक शास्त्र होना चाहिए। हममें से प्रत्येक किसी-न-किसी कार्य में लगा हुआ है, पर हममें से अधिकांश अपनी शक्तियों का अधिकतर भाग व्यर्थ खो देते है; क्योंकि हम कर्म के रहस्य को नहीं जानते। कर्मयोग इस रहस्य को समझाता है—वह सिखाता है कि कहाँ और कैसे कांम करना चाहिए; हमारे सामने जो काम है, उसमें अपनी शक्तियों के सब से अधिक भाग का उपयोग अत्यन्त लाभदायक रीति से किस प्रकार किया जा सकता है। पर इस रहस्य के साथ ही साथ हमें कर्म के विरुद्ध होनेवाले उस बड़े आक्षेप पर भी विचार करना चाहिए, जो कहता है कि कर्म से दुःख की उत्पत्ति होती है। सारे दुःख और कष्ट आसक्ति से उत्पन्न हुआ करते हैं। मैं कर्म करना चाहता हूँ, मैं किसी मनुष्य की भलाई करना चाहता हूँ, और यह बात ९९ प्रतिशत सम्भव है कि वह मनुष्य, जिसकी मैंने भलाई की है, कृतघ्न निकलेगा और मेरे विरुद्ध कार्य

करेगा। मेरे लिए इसका परिणाम तो दुःख ही होगा। ऐसी घटनाएँ मनुष्य को कर्म करने से दूर भगाती हैं। इस दुःख और कष्ट का डर मानवजाति के कर्म और शक्ति का बड़ा भाग नष्ट कर देता है। कर्मयोग सिखाता है केवल कर्म के लिए कर्म किस प्रकार करना, किस प्रकार आसक्तिरहित होकर—किसको सहायता मिलती है और किसलिए कर्म किया जाता है इन सब बातों की ओर ध्यान दिये बिना ही कर्म करना। कर्मयोगी इसीलिए कर्म करता है कि कर्म करना उसके लिए अच्छा है, और इसके परे उसका कोई हेतु नहीं है। उसकी स्थिति इस संसार में एक दाता के समान है और वह कुछ पाने की कभी चिन्ता नहीं करता। वह जानता है कि मैं दे रहा हूँ, और बदले में कुछ माँगता नहीं और इसीलिए वह दुःख के चंगुल में नहीं पड़ता। जब कभी हम पर दुःख का बन्धन पड़ता है, तो वह 'आसक्ति' की प्रतिक्रिया का ही फल हुआ करता है।

इसके बाद भक्तियोग है, जो भावनाप्रधान, प्रेमी-प्रकृतिवाले व्यक्ति के लिए उपयोगी है। वह ईश्वर पर प्रेम करना चाहता है और सभी प्रकार के क्रिया-अनुष्ठान, पुष्प, गन्ध-द्रव्य, सुन्दर मन्दिर और मूर्ति आदि का आश्रय लेता और उपयोग करता है। क्या आप समझते हैं कि वे गलती कर रहे हैं? आपको एक बात अवश्य बता दूँ। विशेषकर इस देश में यह स्मरण रखना आपके लिए अच्छा होगा कि संसार की महान् आध्यात्मिक विभूतियाँ उन्हीं पन्थों में उत्पन्न हुई हैं, जिनके पास बहुत समृद्ध पौराणिक कथाओं और कर्मविधियों का भाण्डार रहा है। वे पन्थ जो ईश्वर की पूजा, बिना मूर्ति और बिना विधि के ही करने का प्रयत्न करते हैं, ऐसी प्रत्येक वस्तु को निर्दयतापूर्वक

कुचल डालते हैं, जो धर्मराज्य में सुन्दर है, उदात्त है। उनका धर्म अधिक-से-अधिक धर्मान्धता ही है, वह एक शुष्क रसहीन वस्तु है। संसार का इतिहास इस घटना का प्रत्यक्ष साक्षी है। अतः इन विधियों और पौराणिक कथाओं का तिरस्कार मत करो। लोग इन्हें रखे रहें। जिन्हें इनकी इच्छा है, उन्हें यह सब रखने दो। अधरों पर वह अनुचित तिरस्कारयुक्त हँसी लाकर यह न कहो, "वे मूर्ख हैं, उनके पास इन बातों को रहने दो।" बात ऐसी नहीं है। बड़े-बड़े महात्मा जिनका दर्शन मैंने अपने जीवन में किया है, जिनकी आध्यात्मिक प्रगति अत्यन्त अद्भुत थी, वे इन्हीं विधि-अनुष्ठानों में से होते हुए उस उच्चावस्था को प्राप्त हुए हैं। मैं अपने को उनके चरणों के समीप बैठने-योग्य नहीं पाता; फिर 'मैं' 'उनकी' समालोचना करूँ! मैं यह कैसे जानूँ कि ये विचार मनुष्य के मन पर किस प्रकार प्रभाव डालते हैं? इनमें से किसको मैं ग्रहण करूँ और किसको त्याग दूँ? हम बिना पर्याप्त कारण के ही किसी भी बात की टीकाटिप्पणी करने लग जाते हैं। लोग जितनी पौराणिक कथाएँ रखना चाहें, रखें, उनकी स्फूर्तिदायक सुन्दर शिक्षाओं को ग्रहण करें; क्योंकि यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि भावनाप्रधान प्रकृतिवाले मनुष्य सत्य की शुष्क परिभाषाओं की परवाह नहीं करते। उनके लिए ईश्वर तो एक मूर्त वस्तु है और वही एकमात्र सत्स्वरूप है। वे उसका अनुभव करते हैं, उसकी वाणी श्रवण करते हैं, उसे देखते हैं और उससे प्रेम करते हैं। वे अपने ईश्वर को रखे रहें। आपका तर्कवादी उनकी दृष्टि में उस मूर्ख के समान है, जो एक सुन्दर मूर्ति को देखकर उसे यह जानने के लिए तोड़ना चाहता है कि वह बनी किस द्रव्य की है। भक्तियोग उन्हें यह सिखाता है कि

बिना किसी स्वार्थयुक्त उद्देश्य के ईश्वर से किस तरह प्रेम करना चाहिए। वह शिक्षा देता है कि ईश्वर से, शुभ से, प्रेम इसलिए करना चाहिए कि ऐसा करना अच्छी बात है, न कि स्वर्ग पाने के लिए अथवा सन्तति, सम्पत्ति या अन्य किसी कामना की पूर्ति के लिए। वह यह सिखाता है कि प्रेम का सब से बढ़कर पुरस्कार प्रेम ही है, और स्वयं ईश्वर प्रेमस्वरूप है। वह उन्हें सभी प्रकार के सम्बोधनों द्वारा ईश्वर को अपने हृदय का भक्ति-अर्घ्य प्रदान करना सिखाता है—जैसे, सृष्टिकर्ता, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान् शासक, पिता और माता। सब से बढ़कर वाक्यांश जो ईश्वर का वर्णन कर सकता है, सब से बढ़कर कल्पना जिसे मनुष्य का मन ईश्वर के बारे में ग्रहण कर सकता है, वह यह है कि 'परमेश्वर प्रेमस्वरूप हैं'। जहाँ कहीं प्रेम है, वह परमेश्वर ही है। "जहाँ कहीं प्रेम है, वह ईश्वर ही है, वहाँ ईश्वर ही विद्यमान है।" जब पति पत्नी का चुम्बन करता है, तो वहाँ उस चुम्बन में वह ईश्वर है। जब माता बच्चे को चूमती है, तो वहाँ भी उस चुम्बन में वह ईश्वर ही है। जब दो मित्र हाथ मिलाते हैं, तब वहाँ वह परमात्मा ही प्रेममय ईश्वर के रूप में विद्यमान है। जब एक महान् व्यक्ति प्रेम करता है और मानवजाति की सहायता करना चाहता है, तब वहाँ वह ईश्वर ही मानवजाति के प्रति अपने प्रेम के कारण अपना दान मुक्तहस्त होकर देता है। जहाँ कहीं हृदय का विस्तार होता है, वहाँ ईश्वर प्रकट होता है। यही भक्तियोग की शिक्षा है।

अन्त में हम ज्ञानयोग पर आते हैं। ज्ञानयोगी दार्शनिक है, विचारशील है और दृश्य-जगत् के परे जाने का इच्छुक है। वह इस संसार की छोटी-छोटी वस्तुओं से सन्तुष्ट होनेवाला मनुष्य

नहीं है। उसकी धारणा है कि खान-पान आदि दैनिक जीवन के परे जाना होगा। सहस्रों ग्रन्थों की शिक्षा से भी उसे सन्तोष नहीं होता। सारे विज्ञानशास्त्र भी उसे सन्तुष्ट नहीं कर सकते। अधिक-से-अधिक वे सब उसके सामने इस छोटे से संसार को ही ला सकते हैं। तब फिर कौनसी दूसरी वस्तु उसे सन्तोष देगी? करोड़ों विश्व-ब्रह्माण्ड भी उसको सन्तुष्ट नहीं कर सकते; वे तो उसके लिए सत्ता के सिन्धु में केवल एक बिन्दु के समान हैं। उसकी आत्मा सत्य को उसके प्रकृत स्वरूप में देखना चाहती है और संसार की इन सारी वस्तुओं के अतीत जाकर, उस सत्य-स्वरूप का अनुभव करके, तद्रूप होकर, उस सर्वव्यापी परमात्मा के साथ एक होकर सत्ता के अन्तराल में समा जाना चाहती है। यही दार्शनिक है। यह कहना कि ईश्वर पिता है या माता है, इस विश्व का स्रष्टा, उसका पालक और चालक है, उसकी दृष्टि में उस ईश्वर के वर्णन के लिए बिलकुल अपर्याप्त है। उसके लिए तो ईश्वर उसके जीवन का जीवन है, उसकी आत्मा की आत्मा है। ईश्वर स्वयं उसी की आत्मा है। ऐसी कोई अन्य वस्तु शेष ही नहीं रह जाती, जो ईश्वर न हो। उसके व्यक्तित्व के सभी मरणशील अंग दर्शनशास्त्र के प्रबल आघातों से चूर्ण होकर उड़ जाते हैं और अन्त में यथार्थतः जो शेष रह जाता है, वह ईश्वर है।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥"*

---

* मुण्डकोपनिषद्, ३।१।१-२

--एक ही वृक्ष पर दो पक्षी हैं, एक चोटी पर और दूसरा नीचे। चोटी पर रहनेवाला पक्षी शान्त, मौन, महिमाशाली और अपने ही ऐश्वर्य में मग्न है। नीचे की शाखाओं पर रहनेवाला पक्षी, बारी-बारी से मधुर और कटु फल खाता हुआ, शाखा से शाखा पर फुदकता हुआ, बारी-बारी से सुखी और दुःखी हो रहा है। कुछ काल के पश्चात् नीचेवाला पक्षी अत्यन्त कटु फल खाकर त्रस्त हो जाता है और ऊपर की ओर वहाँ उस स्वर्ण पंखवाले अद्‌भुत पक्षी को देखता है, जो न तो मधुर फल खाता है, न कटु ही, जो न सुखी है न दुःखी, वरन् शान्त, अपने आप में ही मग्न है और अपनी आत्मा के परे कुछ नहीं देखता है। नीचेवाला पक्षी उसी स्थिति की आकांक्षा करता है, पर शीघ्र ही उस बात को भूल जाता है और पुनः फल खाना आरम्भ कर देता है। थोड़ी देर बाद वह फिर से दूसरा अत्यन्त कड़ुआ फल खाता है, जिसके कारण उसे ग्लानि होती है। वह पुनः ऊपर देखता है और उस ऊपरवाले पक्षी के कुछ समीप पहुँचने का प्रयत्न करता है। एक बार फिर उसे विस्मरण हो जाता है और कुछ समय के बाद पुनः वह ऊपर दृष्टि डालता है और इसी प्रकार वह बार-बार ऊपर उठता जाता है। अब वह उस सुन्दर पक्षी के अत्यन्त समीप पहुँच जाता है और देखता है कि उस पक्षी के शरीर और पंख से निकलनेवाली सुनहली आभा उसके अपने ही शरीर के आस-पास खेल रही है। अब इस पक्षी को अपने में परिवर्तन का अनुभव होता है--वह मानो पिघलने लगता है; अब वह और भी निकट जाता है और उसके आसपास की सभी वस्तुएँ पिघल जाती हैं। अन्त में वह इस अद्‌भुत परिवर्तन को समझ पाता है कि वह मानो ऊपरवाले की ही ठोस-सी प्रतीत

होनेवाली छाया था, उसका प्रतिबिम्ब था। वह स्वयं स्वरूपतः सदा ऊपर का पक्षी ही था। मधुर और कटु फलों का यह भक्षण, नीचेवाले इस छोटे पक्षी का बारी-बारी से रोना और आनन्दित होना, वह सब केवल मिथ्या आभास था, एक स्वप्न मात्र था। सच्चा पक्षी तो शान्त और मौन, तेजस्वी और ऐश्वर्य-सम्पन्न, दुःख और शोक के परे सदैव ऊपर ही बैठा था। ऊपरवाला पक्षी इस विश्व का प्रभु ईश्वर है और नीचेवाला पक्षी इस संसार के मधुर और कटु फलों का भक्षक जीवात्मा है। बीच-बीच में जीवात्मा पर कठोर आघात होते रहते हैं। तब कुछ समय के लिए वह फल खाना बन्द करके उस अज्ञात ईश्वर की ओर बढ़ता है और प्रकाश की बाढ़ सामने आती है। तब वह सोचता है कि यह संसार एक मिथ्या दृश्य है। फिर भी इन्द्रियाँ उसे नीचे खींच लाती हैं और वह पूर्ववत् संसार के मीठे और कड़ुए फलों को खाना आरम्भ कर देता है। पुनः उसे अत्यन्त दुःसह दुःख का आघात प्राप्त होता है। उसका हृदय ईश्वरी प्रकाश के लिए पुनः खुल जाता है। इस प्रकार वह क्रमशः ईश्वर की ओर आने लगता है और जैसे-जैसे उसके अधिकाधिक समीप पहुँचता जाता है, वैसे-वैसे वह अपनी पुरानी आत्मा को पिघलते हुए देखता है। जब वह अत्यन्त समीप आ जाता है, तब वह देखता है कि वह ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, और कह उठता है, "स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति"*—"जिसके सम्बन्ध में मैंने तुम्हें बतलाया है कि वह विश्व का प्राण है, प्रत्येक अणु में और सूर्यों एवं चन्द्रों में वर्तमान है, वही हमारे अपने जीवन का आधार है, हमारी

* छान्दोग्य उपनिषद्, ६।८।७

आत्मा की आत्मा है। नहीं, तुम वही हो!" ज्ञानयोग यही शिक्षा देता है। वह मनुष्य को बताता है कि वह स्वरूपतः ब्रह्म ही है। वह मानवजाति को सत्ता की यथार्थ एकता दिखलाता है और यह सिखाता है कि हममें से प्रत्येक पृथ्वी पर प्रकट हुआ स्वयं परमेश्वर ही है। हम सभी—हमारे पैरों के नीचे रेंगनेवाले अति क्षुद्र कीट से लेकर जिसको हम सविस्मय हृदय की श्रद्धाभक्ति अर्पण करते हैं, उन श्रेष्ठ जीवों तक, सभी—उसी प्रभु के प्रकाश हैं।

अन्त में मैं यह बता देना चाहता हूँ कि इन सब विभिन्न योगों का जीवन में प्रत्यक्ष आचरण करना चाहिए; केवल तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों से कोई लाभ नहीं हो सकता। पहले उनके विषय में श्रवण करना चाहिए, तत्पश्चात् उन पर मनन करना चाहिए। हमें उन विचारों को तर्क द्वारा समझना चाहिए, अपने मन पर उन्हें अंकित करना चाहिए और उनका निदिध्यासन करके अपरोक्ष-अनुभव करना चाहिए, जिससे कि अन्ततोगत्वा हमारा समस्त जीवन तद्भावभावित हो उठे। तब धर्म हमारे लिए विचारों या सिद्धान्तों की गठरी मात्र न रहेगा, न वह केवल बौद्धिक सम्मति मात्र होगा; वह तो हमारी प्रत्यक्ष आत्मा में ही प्रविष्ट हो जायेगा। बौद्धिक सम्मति द्वारा हम आज बहुतेरे मूर्खतापूर्ण विषयों को भले ही ग्रहण कर लें और कल अपने विचारों को बिलकुल ही बदल डालें; पर यथार्थ धर्म कभी नहीं बदल सकता। धर्म अनुभूति की वस्तु है, बोलने की नहीं; वह कोई मतवाद नहीं है, न सिद्धान्तों का समूह ही, चाहे वे कितने भी सुन्दर क्यों न दिखते हों। आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता को जान लेना, तद्रूप हो जाना, उसका साक्षात्कार करना—यही धर्म है।

वह केवल सुनने या मान लेने की चीज नहीं है। अपने सम्पूर्ण मन और प्राण के साथ अपनी श्रद्धा की वस्तु के साथ एकरूप हो जाना—यही धर्म है।

हमारा जन्मप्राप्त धर्म

प्राचीन काल में हमारे देश में आध्यात्मिक भाव की अतिशय उन्नति हुई थी। हमें आज वही प्राचीन गाथा स्मरण करनी होगी। प्राचीन कालिक गौरव के स्मरण में सब से बड़ी आपत्ति यह है कि हम कोई नवीन काम करना पसन्द नहीं करते और केवल अपने प्राचीन गौरव के स्मरण और कीर्तन में ही सन्तुष्ट होकर अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने लग जाते हैं। हमें इस सम्बन्ध में सावधान रहना चाहिए। प्राचीन काल में अनेक ऋषि-महर्षि थे—उन्हें सत्य का साक्षात्कार हुआ था। किन्तु प्राचीन काल के स्मरण से वास्तविक उपकार तभी होगा जब हम भी उनके सदृश ऋषि हो सकें, केवल इतना ही नहीं—मेरा विश्वास है कि हम और भी श्रेष्ठ ऋषि हो सकेंगे। भूतकाल में हमारी खूब उन्नति हुई थी—मुझे उसे स्मरण करते हुए बड़ा गौरव होता है। वर्तमान कालिक अवनत अवस्था को देखकर भी मैं दुःखी नहीं होता और भविष्यत् में जो होगा, उसे अनुमान कर भी मैं आशान्वित होता हूँ। कारण, मैं जानता हूँ कि बीज का बीजत्व-भाव जब नष्ट होगा तभी वह वृक्ष हो सकेगा। इस प्रकार वर्तमान अवनत अवस्था के भीतर भविष्यत् का महत्त्व निहित है।

हमारे जन्मप्राप्त धर्म में कौन-कौन साधारण भाव हैं? ऊपर ऊपर विचार करने से हमें पता लगता है कि हमारे धर्म में नाना प्रकार के विरोध हैं। कुछ लोग अद्वैतवादी, कुछ विशिष्टाद्वैतवादी और कुछ द्वैतवादी हैं। कोई अवतार मानते हैं, कोई मूर्तिपूजा मानते हैं तो कोई निराकारवादी हैं। आचार के सम्बन्ध

में नाना प्रकार की विभिन्नता दिखायी पड़ती है। जाट लोग मुसलमान या ईसाई की कन्या से विवाह करने पर भी जातिच्युत नहीं होते। वे बिना किसी विरोध के सब हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश कर सकते हैं। पंजाब के अनेक गाँवों में जो हिन्दू सुअर का मांस नहीं खाता, उसे लोग मुसलमान समझते हैं। नेपाल में ब्राह्मण चारों वर्णों की कन्याओं के साथ विवाह कर सकता है। बंगाल में ब्राह्मण अपनी जाति के अन्य विभाग में भी विवाह नहीं कर सकता। इसी प्रकार की और भी विभिन्नताएँ देखने में आती हैं, किन्तु सभी हिन्दुओं में यह एकत्व है कि कोई भी हिन्दू गोमांस भक्षण नहीं करता।

इस प्रकार हमारे धर्म के भी अन्तर्भागों में एक महान् सामञ्जस्य है। प्रथम---शास्त्रों की आलोचना करते समय एक महत्त्वपूर्ण विषय सामने आता है---जिन धर्मों ने इतनी उन्नति की थी कि उनके भीतर एक या अनेक शास्त्रों की उत्पत्ति हो गयी, वे नाना प्रकार के अत्याचार होने पर भी आजतक टिके हैं। अपनी विशिष्ट सुन्दरताओं के होते हुए भी शास्त्र के अभाव से यूनानी धर्म का लोप हो गया, किन्तु यहूदी धर्म पुरानी गाथा (Old Testament) के बल पर आज भी अक्षुण्ण प्रतापशाली है। संसार के सब से प्राचीन ग्रन्थ वेद के आधार पर हिन्दू धर्म की यही दशा है। वेद के दो भाग हैं---कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। भारतवर्ष के सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से कर्मकाण्ड का आजकल लोप हो गया है। दक्षिण में कुछ ब्राह्मण कभी-कभी अजा-बलि देकर यज्ञ करते हैं, और विवाह-श्राद्धादि के मन्त्रों में वैदिक क्रियाकाण्ड का आभास दिखायी पड़ जाता है। इस समय उसे पूर्व की भाँति पुनः प्रतिष्ठित करने का उपाय नहीं है। कुमारिल

भट्ट ने एक बार चेष्टा की थी, किन्तु वे अपने प्रयत्न में असफल ही रहे। इसके बाद ज्ञानकाण्ड है, जिसे उपनिषद्, वेदान्त या श्रुति भी कहते हैं। आचार्य लोग जब कभी श्रुति का कोई वाक्य उद्धृत करते हैं तो वह उपनिषद् का ही होता है। यही वेदान्त धर्म इस समय भारतवर्ष का धर्म है। यदि किसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की दृढ़ प्रतिष्ठा ईप्सित है तो उसे वेदान्त का ही आधार लेना चाहिए। द्वैतवादी अथवा अद्वैतवादी सभी को उसी आधार की शरण लेनी होगी। अपने सिद्धान्तों की सत्यता सिद्ध करने के लिए वैष्णवों को गोपालतापनी उपनिषद् की शरण लेनी पड़ती है। यदि किसी नये सम्प्रदाय को अपने सिद्धान्तों के पुष्टिकारक वचन उपनिषद् में नहीं मिलते तो वे एक नये उपनिषद् की रचना करके प्राचीन की भाँति व्यवहार में लाने का यत्न करते हैं। भूतकाल में इसके कतिपय उदाहरण हो चुके हैं। वेदों के सम्बन्ध में हिन्दुओं की यह धारणा है कि वे किसी व्यक्तिविशेष की रचना अथवा पुस्तक नहीं हैं। वे ईश्वर की अनन्त ज्ञानराशि हैं जो किसी समय व्यक्त और किसी समय अव्यक्त होती है। सायनाचार्य ने एक स्थान पर लिखा है, 'यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् निर्ममे'—जिसने वेदज्ञान के प्रभाव से सारे जगत् की सृष्टि की है। वेद के रचयिता को कभी किसी ने नहीं देखा। इसलिए इसकी कल्पना करना भी असम्भव है। ऋषियों ने केवल इन सब बातों को प्रत्यक्ष किया था। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अनादि काल से स्थित वेदों का साक्षात्कार किया था।

ये ऋषिगण कौन थे? वात्स्यायन ने लिखा है, जिसने यथाविहित धर्म की अनुभूति की है, वह म्लेच्छ होने पर भी ऋषि हो सकता है। इसीलिए प्राचीन काल में, वेश्यापुत्र वशिष्ठ,

धीवरतनय व्यास, दासीसुत नारद प्रभृति ऋषि कहलाते थे। सच्ची बात यह है कि धर्म का साक्षात्कार होने पर किसी प्रकार का भेद नहीं रह जाता। उपर्युक्त व्यक्ति यदि ऋषि हो सकते हैं, तो हे आधुनिक कुलीन ब्राह्मण ! तुम सभी और भी उच्च ऋषि हो सकते हो। इसी ऋषित्व का लाभ करने की चेष्टा करो—समस्त संसार तुम्हारे सामने स्वयं ही नत हो जायेगा। ये ही वेद हमारे एकमात्र प्रमाण हैं और इनमें सब का ही अधिकार है।

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वीय चारणाय ॥"*

क्या आप हमें वेद में ऐसा कोई प्रमाण दिखा सकते हैं, जिससे यह सिद्ध हो जाय कि वेद में सब का अधिकार नहीं है? पुराणों में लिखा है कि वेद की अमुक शाखा में अमुक जाति का अधिकार है, अमुक अंश सतयुग के लिए और अमुक अंश कलियुग के लिए है। किन्तु वेद में तो इस प्रकार का कोई जिक्र नहीं है। क्या कोई नौकर कभी अपने मालिक को आज्ञा दे सकता है? स्मृति, पुराण, तन्त्र वहीं तक ग्राह्य हैं, जहाँ तक वे वेद का अनुमोदन करते हैं। ऐसा न होने पर वे अग्राह्य हैं। किन्तु आजकल हम लोगों ने पुराण को वेद की अपेक्षा श्रेष्ठ समझ रखा है। वेदों की चर्चा तो बंगाल प्रान्त में लोप ही हो गयी है। मैं वह दिन शीघ्र देखना चाहता हूँ जिस दिन प्रत्येक घर में शालग्राम की मूर्ति के साथ आबाल-वृद्ध-वनिता वेद की पूजा करते दृष्टिगोचर होंगे।

वेद के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धान्तों में मेरा कुछ भी विश्वास नहीं है। वे वेदों का समय कभी कुछ निर्णय

---

* शुक्ल यजुर्वेद—माध्यन्दिन शाखा, २६ अध्याय, २ मन्त्र।

करते हैं, चट उसे बदलकर फिर एक हजार वर्ष पीछे घसीट ले जाते हैं। ऊपर कह आये हैं कि पुराण वहीं तक ग्राह्य हैं जहाँ तक वे वेदों का समर्थन करते हैं। पुराणों में ऐसी अनेक बातें हैं, जिनका वेदों के साथ मेल नहीं है। जैसे, पुराण में लिखा है, कोई दस हजार वर्ष और कोई बीस हजार वर्ष जीवित रहता है; किन्तु वेदों में लिखा है—'शतायुर्वै पुरुषः।' इस मतभेद में वेदवाक्य ही ग्राह्य है। ऐसा होने पर भी पुराणों में योग, भक्ति, ज्ञान और कर्म की अनेक सुन्दर सुन्दर बातें देखने में आती हैं और हमें उन सभी को ग्रहण करना ही होगा। इसके बाद है तन्त्र। तन्त्र का वास्तविक अर्थ है शास्त्र, जैसे कापिल तन्त्र; किन्तु इस स्थान पर मैं तन्त्र शब्द का उसके वर्तमान प्रचलित संकीर्ण अर्थ में व्यवहार करता हूँ। बौद्धधर्मावलम्बी नृपतियों के शासनकाल में वैदिक यज्ञों का लोप होने पर राजदण्ड के भय से कोई हिंसा नहीं कर सकता था, किन्तु अन्त में बौद्ध धर्म में ही इन यज्ञों का सुन्दर सुन्दर अंश गुप्त रूप से सम्मिलित हो गया—इसीसे तन्त्रों की उत्पत्ति हुई। तन्त्रों में वामाचार प्रभृति बहुत से अंश खराब होने पर भी, तन्त्रों को लोग जितना खराब समझते हैं, वे उतने खराब नहीं हैं। वास्तविक बात तो यह है कि वेद का ब्राह्मण भाग ही कुछ परिवर्तित होकर तन्त्रों में वर्तमान है। वर्तमान काल की पूजा-विधियाँ और उपासना-पद्धति तन्त्रों के अनुसार होती हैं। अब हमें अपने धर्मों के सिद्धान्तों पर भी थोड़ा विचार करना चाहिए।

हमारे धर्म के सम्प्रदायों में अनेक विभिन्नताएँ होते हुए भी बहुत ऐक्य है। प्रथम—सभी सम्प्रदाय तीन चीजों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं—ईश्वर, आत्मा और जगत्। ईश्वर वह है,

जो अनन्तकाल से जगत् का सृजन, पालन और संहार करता आ रहा है। सांख्य-दर्शन के अतिरिक्त सभी इस सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं। असंख्य जीवात्माएँ बार-बार शरीर धारण कर जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमती रहती हैं, इसीको संसारवाद या पुनर्जन्म-वाद कहते हैं। इसके पश्चात् यह अनादि अनन्त जगत् है। कुछ लोग इन तीनों को भिन्न-भिन्न, कुछ इन्हें एक ही के भिन्न-भिन्न तीन रूप और कुछ लोग अन्य प्रकारों से इनका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। किन्तु इन तीनों का अस्तित्व सर्वमान्य है। यहाँ पर स्मरण रखना चाहिए कि चिरकाल से हिन्दू आत्मा को मन से पृथक् मानते आ रहे हैं। पाश्चात्य विद्वान् मन के अतिरिक्त किसी चीज की कल्पना नहीं कर सके। वे लोग जगत् को आनन्दपूर्ण, सम्भोग करने की चीज समझते हैं। प्राच्य लोगों की जन्म से ही यह धारणा होती है कि यह संसार नित्य परिवर्तन-शील तथा दुःखपूर्ण है——इसमें कुछ भी नहीं रखा है। इसीलिए पाश्चात्य लोग संघबद्ध कर्म में विशेष पटु हैं और प्राच्य लोग अन्तर्जगत् के अन्वेषण में ही विशेष साहस दिखाते हैं।

जो कुछ भी हो, इस स्थान पर हिन्दू धर्म की और दो-एक बातों की आलोचना करना आवश्यक है। हिन्दुओं में अवतारवाद प्रचलित है। वेदों में हमें केवल मत्स्य अवतार की ही कथा देखने में आती है। इस अवतारवाद का वास्तविक अर्थ मनुष्य-पूजा है——मनुष्य के भीतर ईश्वर को साक्षात् करना ही ईश्वर का वास्तविक साक्षात्कार करना है। सभी लोग इस पर विश्वास करते हैं या नहीं, यह कोई विचारणीय विषय नहीं है। हिन्दू प्रकृति के द्वारा प्रकृति के ईश्वर तक नहीं पहुँचते——मनुष्य के द्वारा मनुष्य के ईश्वर के निकट जाते हैं। इसके बाद है मूर्तिपूजा।

शास्त्रों में लिखित पंच उपास्य देवताओं के अतिरिक्त अन्य देवता केवल पदों के भिन्न भिन्न नाम मात्र हैं—किन्तु ये पाँचों उपास्य देवता उसी एक भगवान् के भिन्न नाम मात्र हैं। यह मूर्तिपूजा हमारे सब शास्त्रों में अधमाधम मानी गयी है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मूर्तिपूजा करना गलत है। इस मूर्तिपूजा के भीतर नाना प्रकार के कुत्सित भावों के प्रवेश कर लेने पर भी मैं उसकी निन्दा नहीं कर सकता। यदि उसी मूर्तिपूजक ब्राह्मण (श्रीरामकृष्ण) की पदधूलि मैं न पाता तो आज मैं कहाँ होता? वे सुधारक, जो मूर्तिपूजा की निन्दा करते हैं, उनसे मैं कहूँगा, आप भले ही वैसा कीजिये, किन्तु जो लोग ऐसा नहीं कर सकते हैं उनकी निन्दा आप क्यों करते हैं? संस्कार तो केवल पुराने मकान का जीर्ण-संस्कार मात्र है। जीर्ण-संस्कार हो जाने पर और उसकी क्या आवश्यकता? किन्तु सुधारक एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय का संगठन करना चाहते हैं। अस्तु। उन्होंने एक बड़ा कार्य किया है और ईश्वर उनका मंगल करे। किन्तु आप लोग अपने को क्यों समुदाय से पृथक् करना चाहते हैं? हिन्दू नाम लेने ही से क्यों लज्जित होते हैं? हम अपने जातीय जहाज पर चढ़े हुए हैं—जिसमें शायद एक छिद्र हो गया है। हम सब लोगों को मिलकर उसे बन्द कर देना चाहिए। अगर न कर सकें तो हम लोगों को एक संग डूब मरना होगा। और ब्राह्मणों को भी मैं कहना चाहता हूँ कि आप भी वृथा अभिमान न करें, कारण शास्त्रों के अनुसार आपमें भी अब ब्राह्मणत्व शेष नहीं रह गया; कारण, आप भी इतने दिनों से म्लेच्छ राज्य में रह रहे हैं। यदि आप लोगों को अपने पूर्वजों की कथाओं में विश्वास है, तो जिस प्रकार प्राचीन कुमारिल भट्ट ने बौद्धों के

संहार करने के अभिप्राय से पहले बौद्धों का शिष्यत्व ग्रहण किया पर अन्त में उनकी हत्या के प्रायश्चित्त के लिए उन्होंने तुषाग्नि में प्रवेश किया, उसी प्रकार आप भी तुषाग्नि में प्रवेश कीजिये; यदि ऐसा न कर सकें, तो अपनी दुर्बलता स्वीकार कर सर्वसाधारण को उनका प्रकृत अधिकार दे दीजिये।

स्वामी विवेकानन्दकृत योग पर विख्यात पुस्तकें

ज्ञानयोग:–

वेदान्त के गूढ़ तत्त्वों का सरल, स्पष्ट तथा सुन्दर रूप से विवेचन।

राजयोग (पातंजल योगसूत्र, सूत्रार्थ और व्याख्यासहित):–

प्राणायाम-ध्यान-धारणा द्वारा समाधि-अवस्था की प्राप्ति के विषय में उपयोगी सूचनाएँ और मार्गप्रदर्शन।

कर्मयोग:–

'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' इस आदर्श के अनुसार कर्म किस प्रकार किये जाएँ, जिससे वे परम शान्ति का निदान बनें – इस रहस्य का विवरण।

भक्तियोग:–

भक्ति का सच्चा अर्थ, सच्चे भक्त का जीवन तथा भक्तिमार्ग पर अधिकाधिक अग्रसर होने के लिए आवश्यक गुण तथा साधनाएँ – इस विषय का अत्यन्त रोचक एवं मौलिक दर्शन।

प्रेमयोग:–

प्रत्येक मानव के हृदय में निहित महान् शक्ति प्रेम का जीवन के सर्वोच्च ध्येय भगवत्प्राप्ति के लिए उपयोग किस प्रकार करें, इसका अत्यन्त भावपूर्ण विवेचन।

विस्तृत सूचीपत्र के लिए लिखिए :–

रामकृष्ण मठ

धन्तोली, नागपुर– ४४० ०१२

Hindu Dharma : Rs. 10/-